15review_boidik_Layout 1 8/19/2021 4:10 PM Page 264

बोलियों का कोलाहल

भारत का भाषाई सर्वेक्षण एवं औपनिवेशिक भाषाशास्त्र

बैदिक भट्टाचार्य

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

> मैं विनम्रता का दिखावा न करके सीधे स्वीकार करना चाहता हूँ कि इस सर्वेक्षण की ख़ामियों के बारे में मुझसे ज़्यादा कोई नहीं जानता; लेकिन, दूसरी ओर, मुझे यह दावा करते हुए कोई संकोच भी नहीं है कि इसके तहत भारत में जिस तरह का काम किया गया है, उसकी दुनिया के किसी देश में कोई मिसाल नहीं मिलती।
>
> —जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया* (1927)

हाल के बरसों में भाषाशास्त्र (Philology) का अनुशासन दो विशिष्ट प्रकार के — सही मायने में दो विपरीतगामी दबावों की — जकड़ में रहा है। एक तरफ़ वह लोगों की इस प्रशंसा का दबाव झेलता रहा है कि मानविकी के अस्तित्व पर छाए बहुमुखी संकटों का हल और इन आधुनिक अनुशासनों का पुनरुद्धार भाषा-विज्ञान ही कर सकता है। जैसा कि जेम्स टर्नर का मानना है, इस मामले में भाषा-विज्ञान विशेष महत्त्व इसलिए रखता है क्योंकि वह मानविकी के विषयों का मूलाधार रहा है, और मौजूदा संकट का एक कारण यह है कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अभियांत्रिकी और गणित (Science, Technology, Engineering, Mathematics) यानी (स्टेम) अनुशासनों की आक्रामकता का प्रतिवाद करने में इस नाभिनाल संबंध का ज़रूरी इस्तेमाल नहीं किया गया है।[1] उत्तर-औपनिवेशिक विद्वत्ता — ख़ास तौर पर अमेरिकी अकादमीय जगत में भाषा-शास्त्रीय मूलाधारों की ओर लौटने का यह आह्वान मुख्यत: एडवर्ड सईद के प्रभाव तथा एरिक अउरबाख़ जैसे विद्वानों के साथ उनके जीवनपर्यंत चलने वाले संवाद का नतीजा है।[2] लेकिन, साथ ही सईद के

[1] जेम्स टर्नर (2014).

[2] उदाहरण के लिए देखें, एडवर्ड सईद (2004) : 11-36. ; एरिक अउरबाख़ (2003) : IX-X X I I. एडवर्ड सईद (2004) : 57-84. परवर्ती अध्ययनों में सईद के प्रभाव का जायज़ा लेने के लिए देखें, आमिर आर. मुफ़्ती (1998) : 95-125. ; एमिली ऐप्टर (2006) : 41-81. तथा देजल क़ादिर (2011) : 19-40.

नज़रिए को यह कहकर प्रश्नांकित भी किया जाता है कि उन्होंने जिस मुहिम को बढ़ावा दिया है या अउरबाख़ अथवा लिओ स्पित्ज़र ने जिस तरह का काम किया है, उसे न विशुद्ध भाषा-विज्ञान के खाते में दर्ज किया जा सकता है, न उसे मानविकी के अनुशासनों की पुनर्कल्पना का आधार बनाया जा सकता है। हाल ही में सिराज अहमद ने भाषा-विज्ञान अथवा तुलनात्मक/ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के बुनियादी चरित्र पर संगीन आक्षेप लगाते हुए कहा है कि एक अनुशासन के तौर पर वह न केवल अठारहवीं सदी के बाद आधुनिक उपनिवेशवाद के लिए आधार और औचित्य का काम करता रहा है बल्कि समकालीन दुनिया की बेशतर समस्याओं — मूलवासी समुदायों के क्रूर शोषण से लेकर हमारे पर्यावरण में घट रही भयावह आपदाओं के लिए भी ज़िम्मेदार रहा है। अहमद का कहना है कि अउरबाख़ और सईद जिस भाषाशास्त्र का महिमा-मंडन करते नहीं थकते उस इतिहासवाद का केंद्र ही औपनिवेशिक शासन के अनिष्टकारी प्रभावों का स्रोत रहा है। ऐसे में, इस स्रोत को विश्वविद्यालय के ख़स्ताहाल विभागों के लिए संजीवनी मानने का मतलब ज्ञानोत्पादन की समकालीन प्रक्रिया को उपनिवेशवाद के उसी पुराने शिकंजे में डाल देना है। दूसरे शब्दों में, दरअसल हमारी समस्या का यह तथाकथित हल ही हमारी मुश्किलों का मूल कारण रहा है, और मानविकी की छीजती हैसियत को भाषा-शास्त्र के ज़रिए पुनर्स्थापित करने की अपील अपनी तमाम गंभीरता व सदाशयता के बावजूद उपनिवेशवाद की विरासत को ठीक से न पढ़ पाने की ग़लती करती है। इसलिए सिराज अहमद की दृष्टि में इसका असली समाधान यह है कि मानविकी की पसंदीदा अध्ययन-पद्धति के रूप में भाषा-शास्त्र को पूरी तरह ख़ारिज करके उसकी जगह बतर्ज़ नीत्शे और फ़ूको, एक नई पद्धति — आर्केयॉलजी का चयन किया जाए।[3]

ईमानदारी से कहें तो दक्षिण एशिया या अन्य क्षेत्रों में तुलनात्मक भाषा-शास्त्र और आधुनिक उपनिवेशवाद की उपरोक्त कड़ी का विचार पूरी तरह नया नहीं है। विद्वानों की एकाधिक पीढ़ियों ने इस संबंध का अध्ययन किया है, और ख़ुद अहमद का रैडिकल सूत्रीकरण भी इन पूर्ववर्ती विद्वानों के कृतित्व पर ही निर्भर करता है।[4] अहमद के सूत्रीकरण में अगर कुछ नया है तो बरास्ते पार्थ चटर्जी और अशील मेंबे, उनका यह दावा कि भाषाशास्त्रीय अभिशासन (गवर्नेंस) की यह परिघटना औपनिवेशिक अपवाद के एक विशिष्ट चरण की ओर संकेत करती है। उनके इस दावे का एक सूत्र यह भी है कि समय के साथ अपवाद का यह श्मिट-बेन्यामिन साँचा उपनिवेशवाद की सफलता के साथ सामान्य-बोध की तरह स्थापित होता गया। अपने विवादात्मक आवेश के अलावा ऐसा कोई भी तर्क औपनिवेशिक सत्ता की चुनिंदा परियोजनाओं के आलोचनात्मक पुनरीक्षण के साथ यह माँग भी करता है कि वह इन भाषाशास्त्रीय शक्तियों की नैतिक पड़ताल औपनिवेशिक भौगोलिकता के आरपार जाकर करे और यह ख़याल भी रखे कि इसका दायरा अठारहवीं सदी के आख़िरी दशकों यानी अपने अंकुरण के क्षण से परे जाता हो। यह बात संदेह से परे है कि 1770 से 1790 के दरमियान इस भाषाशास्त्रीय शासन की नींव बंगाल के पहले गवर्नर-जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स की सदारत में काम करने वाले कारकुन या आमिर मुफ़्ती के शब्दों में, 'कलकत्ता के प्राच्यवादियों'[5] ने डाली थी।

[3] सिराज अहमद (2018) : 17-50.

[4] देखें, डेविड कॉफ़ (1969). ; बर्नार्ड कोह्न (1996). थॉमस ट्राउटमैन (1997) एवं जोसेफ़ इरिंगटन (2008).

[5] आमिर आर. मुफ़्ती (2018).

लेकिन, इस प्रारंभिक इतिहास को औपनिवेशिक परियोजना का निपट स्थाई लक्षण बना कर रख देना न तो ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है, न ही स्थापत्य की दृष्टि से अर्थपूर्ण है। और इसकी वजह यह है कि उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक तक आते-आते नैथेनियल हालहैड, चार्ल्स विल्किंस, विलियम जॉन्स तथा एच.टी. कोलब्रुक जैसे दिग्गज विद्वानों की प्राच्यवाद में पगी गुरु-गंभीर भाषाशास्त्रीय रचनाएँ स्वयं औपनिवेशिक विश्व में ही अपना महत्त्व खो चुकी थीं। और औपनिवेशिक सत्ता को अपने आधिपत्य का औचित्य इंग्लैंड तथा युरोप के बाक़ी देशों में उभरते उपयोगितावाद एवं प्रारंभिक उदारतावाद की सोहबत में ढूँढ़ना पड़ रहा था।[6] जैसा कि अहमद तर्क देते हैं, अगर अठारहवीं सदी में तथाकथित 'विजय का अधिकार' भाषाशास्त्रीय अभिशासन जैसी अपवादमूलक व्यवस्था की बुनियाद रख सकता था तो उन्नीसवीं सदी में उपनिवेश की रक्षा के लिए बहुत-सी ऐसी चीज़ों की दरकार महसूस होने लगी थी जो उक्त विजयी क्षण के बूते से बाहर की बात थी। औपनिवेशिक शासन के लिए भाषाशास्त्र निश्चित रूप से एक केंद्रीय तकनीक बना रहा, परंतु यह भी सच है कि उसकी रूपरेखा और उससे होने वाले लाभ का पैमाना, दोनों बदल गए थे। लिहाज़ा भाषाशास्त्र तथा उपनिवेशवाद की कोई गंभीर पड़ताल इन परवर्ती घटनाओं का नोटिस लिए बग़ैर पूरी नहीं हो सकती। उसे उन विचारों पर अनिवार्य रूप से ध्यान देना होगा जिनके आधार पर आधुनिक औपनिवेशिक राज्य का शीराज़ा खड़ा हुआ।

जावेद मजीद की दो खंडों में प्रकाशित पुस्तक — *लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया* (1894-1928)[7] ठीक ऐसी ही रचना है जो दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक राज्य के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया में भाषाशास्त्र की बृहत्तर भूमिका पर प्रकाश डालती है। आगे प्रस्तुत लेख में इस रचना को इंगित करने के लिए हम संक्षेपाक्षरों — एलएसआइ का प्रयोग करेंगे। जैसा कि जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने ख़ुद कहा था, भाषाओं के परिगणन और विवेचन की यह एक ऐसी महत्वाकांक्षी मुहिम थी जिसकी मिसाल किसी भी आधुनिक या प्राक्-आधुनिक औपनिवेशिक राज्य में नहीं मिलती। निस्संदेह, यह सर्वेक्षण बोर्हेस के साहित्य सरीखा लगता है, लेकिन इसके निष्पादन में गल्प और औपनिवेशिक व्यवस्था का अंतर धुँधला पड़ गया है। मजीद के शब्दों में कहें तो यह एक ऐसी 'विराट' रचना है जिसमें 'भारत' न केवल एक 'संपुटित, संहिताबद्ध बहुभाषी अस्तित्व' की तरह उभरता है, बल्कि रचना का महाकाय आकार देश की 'विशालता और जटिलता' का भी स्मरण कराता है।[8] ग्रियर्सन अपने परिचय-खंड में स्वीकार करते हैं कि इस सर्वेक्षण का बीज बंगाल में 'सेरमपुर के मिशनरियों' द्वारा 1816 में किए गए एक ऐसे ही सर्वेक्षण से पड़ा था। ग़ौरतलब है कि यह सर्वेक्षण बैपटिस्ट कार्यकर्ता विलियम कैरी के नेतृत्व में किया गया था, लेकिन इसका पैमाना और दायरा काफ़ी सीमित था।[9] अपनी रचना की इस शुरुआती निर्माण-प्रक्रिया के साथ ग्रियर्सन भारतीय भाषाओं के क्षेत्र तथा तुलनात्मक शब्दकोश के प्रणयन में उल्लेखनीय काम करने वाले ब्रायन हाउटन हॉज्सन तथा डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर जैसे औपनिवेशिक अधिकारियों का भी उल्लेख करते हैं। बक़ौल ग्रियर्सन इन लोगों ने

---

[6] उदय सिंह मेहता (1999) ; जेनिफ़र पिट्स (2006).

[7] प्रस्तुत लेख में इस पुस्तक का उल्लेख करने के लिए हम दो आद्याक्षरों — स.पु. (समीक्ष्य पुस्तक) का इस्तेमाल करेंगे.

[8] जावेद मजीद (2019) : 2-3.

[9] देखें, जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की भूमिका.

केवल सर्वेक्षण के कार्य में उपयोगी सूचनाओं का योगदान ही नहीं किया था, बल्कि कई अवसरों पर इसकी बुनियादी परिकल्पना में भी सहयोगी रहे थे।[10] बहरहाल, इस पीठिका के बावजूद एलएसआइ की उपलब्धि विलक्षण मानी जाएगी। 179 भाषाओं और 544 बोलियों के तकनीकी विवेचन के इस उद्यम ने एक ओर भारत का एक अनूठा भाषाई मानचित्र तैयार किया तो दूसरी तरफ़ भाषाशास्त्र के अनुशासन तथा औपनिवेशिक शासन के बीच एक पुल बनाने का भी काम किया। एक तरह से देखें तो विषयगत ज्ञान और शासन की यह जिल्दसाज़ी उसी परिघटना का अंग थी जिसे निकलस डर्क्स ब्रिटिश भारत में 'एथ्नॉग्राफ़िक स्टेट' का उदय कहकर संबोधित करते हैं, और जो इस 'विश्वास से चालित थी कि भारत के लोगों के बारे में मानवशास्त्रीय ज्ञान हासिल करके और उन्हें नियंत्रण में लाकर एक ऐसा शासन स्थापित किया जा सकता है जो इंग्लैंड की अपनी योजना का प्रतिनिधित्व करने के साथ उसे जायज़ भी ठहरा सके।'[11] जैसा कि डर्क्स तथा अन्य विद्वानों ने दर्शाया है, 1857 की 'बग़ावत' के बाद भारत और उसकी जनता को भाषाशास्त्र तथा एथ्नॉलजी के ज़रिए समझ लेने की मुहिम इस ज्ञान की अपर्याप्तता और यहाँ के लोगों को पूरी तरह समझ पाने में राज्य की विफलता गहरी चिंता का सबब बनने लगी थी। जैसा कि एडमंड बर्क का मानना था[12], यह एक ऐसी चीज़ थी जिसे पूर्ववर्ती दौर में औपनिवेशिक अनिर्वचनीयता की अविवेकी अभिव्यक्ति मान कर दरकिनार कर दिया जाता। लेकिन, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जनता को न समझ पाने की ऐसी चिंताएँ उन्हीं दस्तावेज़ों में झलकने लगी थीं, जिन्हें औपनिवेशिक राज्य ने भारतीय उपनिवेश और यहाँ के निवासियों को समझने की प्रामाणिक कुंजी के तौर पर तैयार किया था।

एलएसआइ की वस्तु-स्थिति और उसकी महत्ता को समझने के लिए यह एक बुनियादी नुक़्ता है। इससे केवल 'एथ्नॉग्राफ़िक स्टेट' की एक और झाँकी प्रकट नहीं होती, बल्कि उस आम प्रवृत्ति का संकेत भी मिलता है जिसे मैंने अन्यत्र 'औपनिवेशिक भाषाशास्त्र' के नाम से संबोधित किया है।[13] जोंस के भाषाशास्त्र के विषय में अहमद यूँ बात करते हैं जैसे जोंस अपने ऐतिहासिक अभियान के विषय में पूरी तरह आश्वस्त रहे हों। जबकि सर्वेक्षण के संबंध में मजीद
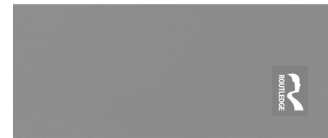
औपनिवेशिक शासन के लिए भाषाशास्त्र निश्चित रूप से एक केंद्रीय तकनीक बना रहा, परंतु यह भी सच है कि उसकी रूपरेखा और उससे होने वाले लाभ का पैमाना, दोनों बदल गए थे। लिहाज़ा भाषाशास्त्र तथा उपनिवेशवाद की कोई गंभीर पड़ताल इन परवर्ती घटनाओं का नोटिस लिए बग़ैर पूरी नहीं हो सकती।

---

[10] वही.

[11] निकलस डर्क्स (2010) : 44.

[12] 'अनिर्वचनीयता' की भारतीय अवधारणा के प्रति बर्क के नज़रिए को समझने के लिए देखें, सारा सुलेरी (1992) : 24-48. ; सुनील एम. अगनानी (2013) : 69-108.

[13] देखें, बैदिक भट्टाचार्य (2021). प्रकाश्य.

अनिर्णय और समझ की अस्पष्टता के ऐसे मुख़्तलिफ़ लम्हों का ज़िक्र करते हैं जिनसे औपनिवेशिक राज्य के दैनिक कार्यकलापों और प्रशिक्षण की परियोजनाओं को नज़दीकी से देखने का मौक़ा मिलता है। उन्होंने सर्वेक्षण की रचना-प्रक्रिया के तीन दशकों का बारीक़ दस्तावेज़ तैयार किया है और सर्वेक्षण की कमियों व ख़ामियों का निराकरण करने हेतु ग्रियर्सन द्वारा अपनाए गए तरीक़ों का उल्लेख भी किया है। इस मायने में मजीद ने एलएसआइ का एक ऐसा विवरण रचा है जिसकी धार हमें चकित कर देती है। उनका यह वृत्तांत न एकाश्मिक है, न एकतरफ़ा। मजीद हमें एलएसआइ की रचना-प्रक्रिया से जुड़े विविध और अक्सर विवादास्पद बौद्धिक विमर्शों, प्रशासनिक निर्णयों तथा राजनीतिक संदर्भों से परिचित कराते चलते हैं। दो खंडों में नियोजित इस किताब में अभिलेखागार से प्राप्त स्रोतों — राजकीय काग़ज़ात जैसे दस्तावेज़ों, एलएसआइ की प्रकाशित जिल्दों और फ़ाइलों, ग्रियर्सन के निजी पत्राचार, समकालीन विद्वानों तथा 'स्थानीय सूचनादाताओं' से उनकी बातचीत आदि के ज़रिए मजीद ने अपना मूल तर्क बहुत मेहनत से विकसित किया है। इन विस्तृत ब्योरों से सिर्फ़ सर्वेक्षण की प्रक्रिया ही आलोकित नहीं होती या केवल इतना ही पता नहीं चलता कि इसके निष्कर्षों को प्रकाशित करने से पहले किस प्रकार संसाधित किया गया था, बल्कि इस परियोजना के उस संयोगपरक चरित्र की बानगी भी मिलती है जो पर्यवेक्षक व लेखक के तौर पर ग्रियर्सन की चौतरफ़ा भूमिका के बावजूद लेखकत्व की स्पष्ट और बेधड़क दावेदारी नहीं करती। मजीद एलएसआइ की इस संकोची प्रवृत्ति की तरफ़ दोनों खंडों में बार-बार ध्यान खींचते हैं तथा साथ ही यह पड़ताल भी करते हैं कि औपनिवेशिक राज्य व भारत के उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्र–राज्य के संदर्भ में इस प्रवृत्ति के राजनीतिक परिणाम क्या हो सकते हैं। उत्तर-औपनिवेशिक काल में बहुत-से समूहों ने एलएसआइ का अलग-अलग उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया है। इसका भारत के भाषाशास्त्रीय शोध पर भी गहरा असर रहा है। ये दोनों तथ्य यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि ग्रियर्सन की इस परियोजना में कई स्वर एक साथ सुनाई देते हैं। एलएसआइ के महत्त्व पर मजीद का यह काम सघन संवाद की अपेक्षा करता है। प्रस्तुत लेख में मजीद के इस पाठ को औपनिवेशिक इतिहास और भाषाशास्त्र के हालिया मुक़ामों के संदर्भ में रखकर देखने का प्रयास किया गया है।

1

मजीद की किताब *कोलोनियलिज़म ऐंड नॉलेज इन ग्रियर्संस लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया* कतिपय प्रस्थान-बिंदुओं के इर्द-गिर्द संरचित है जिनमें कुछ बिंदु सर्वेक्षण के अंदरूनी पहलुओं से ताल्लुक़ रखते हैं और कुछ एलएसआइ को औपनिवेशिक इतिहास-लेखन के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में जाँचने का उपक्रम करते हैं। भारत-विद्या के विद्वान भारत की प्राचीनता एवं संस्कृत के प्रति मनोग्रह की सीमा तक अनुराग रखते थे। इसके उलट ग्रियर्सन समकालीन भारत की देसी ज़बानों (वर्नाक्युलर्स) पर ज़्यादा ज़ोर देते थे। समीक्ष्य पुस्तक में प्रस्थान का पहला समुच्चय इसी पहलू पर केंद्रित है। भाषाशास्त्र का तत्कालीन संसार शास्त्रीय ग्रंथों को 'भारतीय' सभ्यता की प्रामाणिक कुंजी मान कर चलता था, जबकि ग्रियर्सन का विचार था कि सरकार के लिए समकालीन देसी ज़बानें ज़्यादा मूल्यवान हैं, और उन्होंने यह सिद्ध भी करके दिखाया कि औपनिवेशिक राज्य के लिए उक्त भाषाएँ कितनी उपयोगी हैं। वे बार-बार दलील देते थे कि स्थानीय बोलियों के साथ प्रशासकों का अपरिचय

उपनिवेश के प्रशासन में बाधा उत्पन्न करता है। ग्रियर्सन का कहना था कि प्रशासन का संकट तब और गहरा हो जाता है जब देसी ज़बानों में औपचारिक प्रशिक्षण ग्रहण करने के बाद भी अधिकारीगण यह पाते हैं कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इन भाषाओं की बोलियों और उनके परिष्कृत संस्करण में एक साफ़ अंतर है। अधिकारीगण इस अंतर को देखकर विमूढ़ हो जाते हैं। नतीजतन, उनके ज़ेहन में एलएसआइ का विचार उभरा। ग्रियर्सन की नज़र में यह भाषाई सर्वेक्षण बौद्धिक फ़ैशन या बुद्धि-विलास के बजाय एक सरकारी तक़ाज़ा था। और यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि सरकारी ज़रूरत के इस तर्क को मोनियर विलियम्स तथा फ्रेडरिख मैक्स मुलर जैसे प्रतिष्ठित प्राच्यवादियों ने भी हाथों हाथ लिया। ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तावित भारतीय भाषाओं के इस सर्वेक्षण को प्राच्यवादियों की वियना कॉन्ग्रेस (1886) में सम्मति प्रदान कर दी गई। मजीद का कहना है कि ग्रियर्सन के प्रस्ताव की स्वीकृति के पीछे एक कारण यह भी था कि वे *बिहार पेज़ेंट लाइफ़* (1885), *सेवन ग्रामर्स ऑफ़ द डायलेक्ट्स ऐंड सबडायलेक्ट्स ऑफ़ द बिहारी लैंग्वेज* (183-7), द *मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान* (1889) जैसी रचनाओं के आधार पर भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञ की प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे। हालाँकि मजीद का कहना है कि ग्रियर्सन एलएसआइ को एक बड़े फ़लक पर रखकर देखते थे। वे इसे अलग-अलग अवसरों पर 'भाषाविदों के लिए बहुआयामी वैज्ञानिक कोश, ज़िला अधिकारियों के लिए मैनुअल, और विश्व के शिक्षित समुदाय के लिए संदर्भ का स्रोत' बता चुके थे [14], परंतु सच यह है कि ग्रियर्सन की परियोजना इसलिए परवान चढ़ सकी क्योंकि वह सरकार के लिए एक उपयोगी चीज़ थी। दूसरे शब्दों में कहें तो संस्कृत तथा प्राचीन भारत के प्रति भाषाशास्त्रियों का आग्रह इसलिए कमज़ोर पड़ा क्योंकि औपनिवेशिक शासन को अपने लिए यह परियोजना ज़्यादा व्यावहारिक लगी।

लेकिन, प्रस्थान का दूसरा समुच्चय पहले समुच्चय से विपरीत खड़ा नज़र आता है। मजीद का कहना है कि सरकारी तवज्जो के बावजूद औपनिवेशिक राज्य के साथ एलएसआइ तथा ग्रियर्सन का 'संबंध अर्ध-निर्लिप्तता' से अधिक नहीं था :

> औपनिवेशिक राज्य के साथ एलएसआइ का संबंध ख़ासा ढीला-ढाला था। ग्रियर्सन ने इसका मसौदा भारत से बाहर रहते हुए लिखा था, और तब तक वे रिटायर हो चुके थे। उनके ओहदे के साथ जुड़ा शब्द — 'विशेष कर्तव्य', इस बात की सूचना देता है कि उन्हें आधिकारिक सेवा के कठोर नियमों का पालन नहीं करना पड़ता था... सर्वेक्षण की सरकारी, अर्ध-सरकारी और निजी सीमाएँ लगातार बदलती रहीं और ग्रियर्सन उसमें इन दायरों के विभिन्न कोने-अंतरों तथा भारत में औपनिवेशिक विभागों व कैंबर्ली के अपने अध्ययन-कक्ष परिस्थितियों के अनुसार बदलाव करते रहे।[15]

मजीद ने अपनी कृति का तर्क-विन्यास सर्वेक्षण के अलग-थलग आयामों के आधार पर विकसित किया है। इससे एक ओर जनसंख्या-गणना के क्रमिक सिलसिले के साथ इन आयामों के जटिल संबंधों की ख़बर मिलती है तो दूसरी तरफ़ सेवानिवृत्ति के बाद ग्रियर्सन की इंग्लैंड वापसी और सर्वेक्षण के 'लेखन' का पता चलता है। इनके आधार पर मजीद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी अर्ध-सरकारी हैसियत के कारण एलएसआइ से उत्पन्न भाषा ने कभी 'औपनिवेशिक आदेश

[14] स.पु. : 9.

[15] वही : 243.

की भाषा' का तेवर ग्रहण नहीं किया।[16] स्पष्ट है कि यहाँ 'आदेश की भाषा' के प्रयोग की पुनरावृत्ति[17] बर्नार्ड कोह्न के सुप्रसिद्ध निबंध 'द कमांड ऑफ़ लैंग्वेज ऐंड द लैंग्वेज ऑफ़ कमांड' (1985) की याद दिलाती है जिसमें अठारहवीं सदी के बाद औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा शुरू की गई कुछ भाषाई परियोजनाओं का विस्तृत उल्लेख किया गया है। लेकिन इस संदर्भ का प्राथमिक उद्देश्य यह बताना नहीं है कि एलएसआइ का औपनिवेशिक शासन की पिछली परियोजनाओं से क्या संबंध था, इसके बजाय प्रस्तुत संदर्भ यह बताता है कि एलएसआइ की परियोजना परवर्ती परियोजनाओं से किस अर्थ में भिन्न थी।[18] मिसाल के तौर पर, किताब के तीसरे अध्याय में ग्रियर्सन की तीन समास चिह्नों से इंगित होने वाली नस्ली पहचान — 'ऐंग्लो-इंडियन-आयरिश' का हवाला देते हुए मजीद कहते हैं कि उनकी यह अनेकार्थी पहचान ग्रियर्सन को साम्राज्य का अभिन्न अंग नहीं बनने देती थी।[19] इस प्रसंग में मजीद एक असामान्य बात यह भी जोड़ते हैं कि गिरते स्वास्थ्य और आँखों की घटती रोशनी, जिसे ग्रियर्सन अपने पत्राचार में 'विकार' की संज्ञा देते हैं, के कारण उनका अपने तन-मन पर पहले जैसा नियंत्रण नहीं रह गया था। ज़ाहिर है कि इस स्थिति में ग्रियर्सन औपनिवेशिक प्रभु की भूमिका अख़्तियार करने लायक़ नहीं बचे थे।[20] इसका नतीजा यह हुआ कि वे एलएसआइ को मूलत: एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखने लगे जो दोनों सिरों पर खुली थी तथा उसमें प्राधिकार जैसा कोई तत्त्व शेष नहीं रह गया था जिसे कोह्न तथा अन्य विद्वान भारतीय भाषाओं के शुरुआती विश्लेषण का प्रमुख साँचा मानते हैं और इस अंतरिम स्थिति को ग्रियर्सन के श्रम का मुख्य लक्षण बताते हैं। इस प्रकार, औपनिवेशिक शासन का अंतरंग होने के बावजूद एलएसआइ के दस्तावेज़ में स्थानीय संस्कृति और भाषाओं की विलक्षण गूँज सुनाई पड़ती है। और इसकी वजह यह थी कि एलएसआइ की परियोजना न केवल अर्ध-सरकारी थी, बल्कि वह औपनिवेशिक प्रभुसत्ता के 'विरोधी आख्यान' भी रचती थी।[21]

जैसा कि अब तक स्पष्ट हो चुका होगा, अपनी किताब में मजीद एलएसआइ की जिस विशिष्टता को बार-बार रेखांकित करने का प्रयास करते हैं, उसका दारोमदार ग्रियर्सन के व्यक्तित्व पर टिका है। सच तो यह है कि लेखक ने एक तरह से ग्रियर्सन की ज़िंदगी के ब्योरों को छाँट-तराश कर सर्वेक्षण के साँचे में फ़िट कर दिया है। लेखक के वृत्तांत में गियर्सन एक ऐसे जटिल व्यक्ति के रूप में उभरते हैं जिसका ब्रिटिश राज के साथ बहुत प्रगाढ़ संबंध नहीं था। इस वृत्तांत में उनकी संपादक, लेखक, सुपरिंटेंडेंट, सर्वेक्षक तथा प्रशासक आदि जैसी कई पहचानें एक साथ प्रकट होती हैं। एक तरह से इसे औपनिवेशिक राज्य के पेचीदा संजालों का आंगिक प्रतिरूपण कहा जा सकता है। मजीद का कहना है कि शताब्दी का अंत होते-होते ग्रियर्सन और ब्रिटिश राज्य, दोनों का मिज़ाज नरम पड़ चुका था। यह औपनिवेशिक सत्ता द्वारा शुरुआत में अपनाए गए कठोर नियंत्रण और उद्देश्य के मुक़ाबले एक ख़ासी अलग स्थिति थी। यही वह बिंदु है जहाँ से मजीद के तर्क में एक तनाव पैदा होने लगता है : एक तरफ़, सर्वेक्षण को औपनिवेशिक राज्य के ढाँचे से विच्छिन्न दर्शाने के लिए

[16] वही : 246.

[17] वही : 12, 70, 147 तथा 206.

[18] जोन्स : 3 : 269.

[19] स.पु. : 98.

[20] स.पु. : 85-6.

[21] स.पु. : 97.

लेखक ग्रियर्सन के जीवन का उदाहरण देता है तो दूसरी तरफ़ उसी जीवन को छाँट-तराश कर औपनिवेशिक संरचनाओं का प्रतिनिधि चेहरा बना दिया जाता है। मजीद ने सर्वेक्षण में प्रस्तुत एथ्नॉलजी/नस्ल-विज्ञान के संबंध का जिस तरह विवेचन किया है, वह इसी द्वैध का द्योतक है। मसलन, मजीद कहते हैं कि एक समय एथ्नॉलजी तथा भाषाशास्त्र को एक-दूसरे का सहायक माना जाता था, लेकिन सर्वेक्षण में यह घालमेल इसलिए दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि ग्रियर्सन अपने उन समकालीन विद्वानों यथा मैक्स मुलर आदि पर भरोसा करते थे जिनकी दृष्टि में एथ्नॉलजी तथा भाषाशास्त्र को सहयोगी मानना आपत्तिजनक था। लिहाज़ा, एच.एच. रिज़्ले — जिसने *द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ बंगाल* (1891) जैसे चार खंडों में प्रकाशित ग्रंथ की रचना की थी तथा जिसे बक़ौल थॉमस ट्राउटमैन 'भारतीय सभ्यता के नस्लीय सिद्धांत' का प्रखर प्रणेता माना जाता था — के साथ काम करने के बावजूद ग्रियर्सन नस्ल और भाषा प्रत्यक्ष संबंध देखने से परहेज़ करते थे।[22] ग्रियर्सन तो यहाँ तक कहते थे कि भारत की भाषाई बहुलता किसी को ऐसा कोई व्यापक दावा करने की मनाही करती है तथा एलएसआइ जैसे कार्य को तुलनात्मक या ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के तत्वावधान में किए अध्ययन के दोष-निवारक के तौर पर देखा जाना चाहिए। लेकिन फिर भी, बक़ौल मजीद — ग्रियर्सन 'कभी-कभार एलएसआइ के आँकड़ों को एथ्नॉलॉजिस्टों के लिए उपयोगी' बताने लगते हैं और यह तक कह बैठते हैं कि 'दोनों अनुशासन एक-दूसरे से इतने जुदा भी नहीं थे।'[23] नस्ल और भाषा को लेकर ग्रियर्सन का यह दुचित्तापन तथा 'ऐंग्लो-इंडियन-आयरिश' होने की यह तिमंज़िली पहचान अगर एक ही अध्याय में समाहित है तो निश्चय ही उनके बीच में कार्य-कारण का संबंध भी होना चाहिए। लेकिन, मजीद के बौद्धिक उद्यम में ग्रियर्सन के इस पहलू के बजाय 'ज्ञान के बिचौलिए' (या जॉर्ज सिमेल के शब्दों में 'तीसरे पक्ष') की भूमिका ज़्यादा केंद्रीय है क्योंकि अठारहवीं सदी में युरोपीय ज्ञान की हदबंदी इसी से कमज़ोर पड़ना शुरू हुई थी।[24] सीमांत का अतिक्रमण करती ग्रियर्सन की यह छवि अथवा उनका यह 'तीसरा पक्ष' केवल उद्भट विद्वत्ता के कारण नहीं, बल्कि उनकी निजी स्थिति, नस्ली द्वैधता अथवा गिरते स्वास्थ्य और अंततः व्यक्ति के रूप में उनका संदर्भ ही एलएसआइ को उसका मुख्य स्वर और संरचना प्रदान करता है।
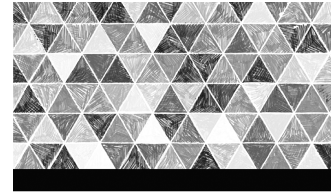
NATION AND REGION IN GRIERSON'S *LINGUISTIC SURVEY OF INDIA*

Javed Majeed
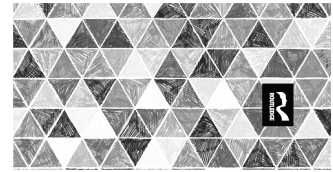
औपनिवेशिक राज्य के साथ एलएसआइ का संबंध ख़ासा ढीला-ढाला था। ग्रियर्सन ने इसका मसौदा भारत से बाहर रहते हुए लिखा था, और तब तक वे रिटायर हो चुके थे। उनके ओहदे के साथ जुड़ा शब्द — 'विशेष कर्तव्य', इस बात की सूचना देता है कि उन्हें आधिकारिक सेवा के कठोर नियमों का पालन नहीं करना पड़ता था...

---

[22] थॉमस आर. ट्राउटमैन (1997) : 194.

[23] स.पु. : 80.

[24] स.पु. : 98-9.

मजीद के विश्लेषण का ढाँचा ग्रियर्सन के व्यक्तित्व से निर्धारित है। वह सर्वेक्षण के पाठ में उनकी आत्म–प्रस्तुति तथा उनके निजी पत्राचार से छनकर उभरता है। इसका साक्ष्य देखना हो तो किताब का चौथा और सबसे दिलचस्प अध्याय देखें जिसमें सर्वेक्षण के कार्य में उभरी लिप्यंतरण संबंधी समस्याओं का विवेचन किया गया है। भारतीय उपमहाद्वीप में भाषा तथा लिपियों के आधिक्य और आँकड़ों के संग्रह में अधिकांशत: सरकार के ऐसे कर्मचारियों पर निर्भरता के चलते, जिन्हें सही अर्थों में भाषाविद् नहीं कहा जा सकता, सर्वेक्षण को भारतीय शब्दों के रोमन अक्षरों में लिप्यंतरण का एक निश्चित रूप तय करना पड़ा। लेकिन, लिप्यंतरण के मानकीकृत ढाँचे की यह खोज कभी पूर्णता पर नहीं पहुँच सकी। मजीद ने इस मामले में सर्वेक्षण के विभिन्न पहलुओं — शब्दों को आमूल बदल देने की प्रवृत्ति से लेकर निजी पसंद-नापसंद का श्रमसाध्य ब्योरा पेश करते हुए दिखाया है कि लिप्यंतरण की यह प्रविधि अस्थिरता का शिकार क्यों बनी रही। लेखक का कहना है कि सर्वेक्षण में रोमन लिपि को औपनिवेशिक प्राधिकार के चिह्न और भारत के भू-भागों पर उसे आधुनिकता के हस्ताक्षर के तौर पर थोपने की यह कोशिश अंतत: भारत की भाषाई विविधता का प्रतिनिधित्व करने में विफल रही। यह तथ्य तत्कालीन विद्वानों और भाषाविदों के साथ ग्रियर्सन के निजी पत्राचार से भी ज़ाहिर होता है कि सर्वेक्षण में प्रयुक्त लिप्यंतरण के ढाँचे को वे भारतीय भाषाओं के विषय में अंतिम और प्रामाणिक निर्णय न मान कर एक 'कामचलाऊ व्यवस्था'[25] के रूप में देख रहे थे। मजीद के अनुसार इससे यह पता चलता है कि सर्वेक्षण द्वारा उत्पादित ज्ञान को अंतिम शब्द नहीं माना जा रहा था। लेखक इसे एलएसआइ का विशेष लक्षण मानता है और फिर इसके आधार पर यह तर्क देता है कि सर्वेक्षण को अंतिम रूप देने में ग्रियर्सन का किसी एक प्रविधि को निर्णायक न मानने अथवा किसी एक स्थाई ढाँचे से एकमत न होने का निजी आग्रह ही प्रबल था।

मजीद ने कई जगह संकेत किया है कि औपनिवेशिक अभिलेखागार में लिप्यंतरण का इतिहास इससे ज़्यादा लंबा है। इसलिए उनका यह भी कहना है कि 'आंशिक तौर पर यह सर्वेक्षण ब्रिटेन की साम्राज्यवादी योजनाओं द्वारा भारतीय लिपियों को रोमन लिपि में परिवर्तित किए जाने का उपसंहार' कहा जा सकता है।[26] लेकिन लेखक द्वारा उद्धृत अधिकांश दस्तावेज़ लगभग पूरी तरह ग्रियर्सन की निजी पसंद या उनके कुछ ख़ास आग्रहों से ताल्लुक़ रखते हैं। इससे न केवल अभिलेखागार का वह संस्करण छोटा पड़ जाता है जिसे लेखक ने बड़े जतन से दर्ज किया है, बल्कि उपमहाद्वीप का औपनिवेशिक भाषाशास्त्र भी विरूपित हो जाता है। 1788 में विलियम जोंस ने अपने प्रबंध *डिसर्टेशन ऑन दि ऑर्थोग्राफ़ी ऑफ़ एशियाटिक वर्ड्स इन रोमन लेटर्स* में खिन्नता के साथ दर्ज किया था कि मूल समस्या प्राच्यवादी संज्ञाओं को ग्रीक भाषा में लिप्यंतरित करने की परंपरा से पैदा हुई थी। जोंस के विचार में यूनान के भाषाशास्त्रियों का दोष यह था कि उन्होंने 'सत्य को कर्णप्रियता पर न्यौछावर कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने अपने वैभवशाली परंतु रूमानी इतिहास में शामिल पूरब की लगभग तमाम संज्ञाओं को एक सोची-समझी योजना के तहत बदला हो ... उनकी यह एक ख़राब आदत

[25] वही : 128.

[26] वही : 107.

थी कि वे विदेशी संज्ञाओं को यूनानी संज्ञा बना देते थे तथा उन्हें एक ऐसी छवि में अंतरित कर देते थे जिसका स्थानीय भाषा से व्युत्पन्न शब्द के साथ मेल बिठाया जा सके।'[27] जोंस आगे लिखते हैं कि उनके अपने दौर में भी चीज़ों में कोई ख़ास सुधार नहीं हुआ था : 'हमारी अंग्रेज़ी का वर्णक्रम और वर्तनी का शास्त्र भी हास्यास्पद ढंग से अपूर्ण और भौंडे हैं; भारतीय, फ़ारसी अथवा अरबी के शब्दों को रोमन अक्षरों में अभिव्यक्त करना नामुमकिन है, और इसकी वजह यह है कि हमें उनके उच्चारण का तरीक़ा बहुत बेहूदा ढंग से सिखाया जाता है।'[28] उन्हें इसका समाधान यह दिखाई देता था :

> अक्षरों की आदर्श प्रणाली में संबंधित भाषा की ध्वनि के उच्चारण हेतु एक अलग चिह्न होना चाहिए : इस मामले में मुझे पुरानी फ़ारसी उत्कृष्टता के निकटतम पहुँचती प्रतीत होती है; अरबी की लिखावट के लिए तो वह मुझे इतनी सटीक लगती है कि उसमें एक भी अक्षर बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता। हू-बू-हू यही बात देवनागरी पर भी लागू होती है क्योंकि किसी भी अन्य भाषा की तुलना में उसका विन्यास ज़्यादा स्वाभाविक है। एशियाई भाषाओं के अक्षरों के संदर्भ में मैं इसे ही मानक की तरह देखता हूँ।[29] वे इससे इतने प्रभावित थे कि इस लेख में प्रस्तुत वर्तनी की एक योजना में यह इच्छा भी जताई थी कि 'फ्रेंच में प्रयुक्त विशेषक-चिह्नों तथा उच्चारण में सतत परिवर्तन (फ़्लक्शंस) से संबंधित हमारे अपने ग्रंथों में प्रयुक्त चिह्नों के साथ' यह योजना देवनागरी की 'सटीकता और स्पष्टता' से प्रतिस्पर्धा कर सकेगी। (देखें, चित्र- 1) उनका ज़ोर इस बात पर था कि एशियाई भाषाओं के रोमन अक्षरों में अंतरण की इस योजना को 'नए अक्षरों के मिश्रण' तथा युरोपीय मानक के अधिग्रहण से बचना चाहिए।[30]

आइए, अब देखें कि बंगाली वर्णमाला के विषय में ग्रियर्सन के क्या ख़याल हैं। मजीद ने इस टिप्पणी का विस्तृत उद्धरण दिया है :

> मैं जिस ध्वनि को ओ के रूप में उच्चारित करता हूँ, वह 'होम' 'वोत्रे' (Votre) में प्रयुक्त दीर्घ ओ की ह्रस्व ध्वनि है। हमें इसे 'हॉट' की ह्रस्व ध्वनि से भिन्न करके देखना चाहिए। हमें यह फ्रेंच शब्द — 'votre' 'yours' के बजाय 'votre' 'your' में सुनाई देती है। इसे अंग्रेज़ी के शब्द प्रोमोट (Promote) के पहले 'ओ' में देखा जा सकता है और दूसरे 'ओ' को Ō से दर्शाया जाता है।[31]

यहाँ ग्रियर्सन की टिप्पणी तथा जोंस (1788) की प्रबंध में प्रस्तुत योजना के बीच एक ऐसी समांतरता है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। सच यह है कि ऐसी उक्तियों का इतिहास मजीद के वृत्तांत से कहीं ज़्यादा पुराना है, जिनमें ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं के शब्दों के लिप्यंतरण हेतु फ़्रांसीसी तथा जर्मन जैसी युरोपीय भाषाओं को अधिक सटीक बताया है। दरअसल, अभिलेखागार में दर्ज इस दीर्घतर इतिहास के बग़ैर एलएसआइ में प्रस्तावित कई विचार इतने औचक और विशृंखल नज़र आते हैं कि उनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। इस संबंध में वह प्रसंग ख़ास तौर पर महत्त्वपूर्ण है जिसमें मजीद लिपियों तथा दृश्यों के सह-संबंध की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि जब ग्रियर्सन अपने पाठकों के मार्गदर्शन हेतु महाद्वीपीय भाषाओं के संबंध में विस्तृत सादृश्य देते हैं

---

[27] विलियम जोन्स : 3 : 254.

[28] वही : 3: 269.

[29] वही.

[30] वही.

[31] स.पु. : 126.

चित्र- 1

Vol. I. Pa: 203. Plate. I.

The System of

INDIAN, ARABIAN & PERSIAN

LETTERS.

Soft and hard Breathings

a or e ha hha

Vowels	Diphthongs	and	Semivowels	
ă. ā.	a, à	e	è	ya
i	ì	o	ò	wa
u	ù	ai	au	ra
rĭ	rī	lrĭ	lrī	la
â à	ê è	î ì	û ù	á â

Consonants.

ca / ka	c'ha / kha	ga	g'ha / gha	ṅa
sa	sha	za	zha	śa
ťa	ť'ha	ďa	ď'ha / ďha	ńa
ta	t'ha / tha	da	d'ha / dha	na
pa	p'ha / fa	ba	b'ha / va	ma

Compounds.

cha	ch,ha	ja	jha	ṅya
ża	ża	ża	csha	jṅya

तो इन सादृश्यों की सटीकता के बजाय उनकी कमियाँ ज़्यादा अर्थपूर्ण दिखाई देती हैं।[32] मसलन, जब रोमन वर्णमाला को एक दृश्य-सामग्री में बदल दिया जाता है और इस काम में युरोप की विभिन्न भाषाओं को भी जोत दिया जाता है — जो कि इसके उच्चारण शास्त्र से एक अलग तरह का कार्य है, तब भी सर्वेक्षण में लिप्यंतरण की प्रविधि के बाबत कोई ख़ास सुराग़ नहीं मिलता। मजीद इसे सर्वेक्षण के अर्ध-सरकारी और अर्ध-संपृक्त होने का सुबूत मानते हैं। और यह एक ऐसी बात है जो रोमन लिपि के उच्चारण शास्त्र और उसके चित्रात्मक गुणों के बूते से बाहर की चीज़ थी। लेकिन एलएसआइ की परियोजना को ख़ालिस ग्रियर्सन की नज़र से देखने पर यह तथ्य ओझल हो जाता

[32] वही : 129.

है कि इस तरह की कोशिशें पहले भी विफल हो चुकी थीं। हक़ीक़त यह है कि औपनिवेशिक भाषाशास्त्र के जिस दौर में तथाकथित 'लैंग्वेज ऑफ़ कमांड' (आदेशात्मक भाषा) की तूती बोलती थी, तब भी जोंस तथा उपनिवेश के अन्य भाषाविदों द्वारा लिप्यंतरण का बरसों बरस प्रचारित किया गया विचार किसी निश्चित परिणति पर नहीं पहुँच पाया था। एलएसआइ के पन्नों से जब भी ऐसी कोई चीज़ उभरती है तो उसे इसी लंबे इतिहास और सर्वेक्षण के विशेष प्रयासों को पिछली तमाम कोशिशों के बरअक्स देखा जाना चाहिए।

मजीद जब सर्वेक्षण में रोमन लिपि के इस्तेमाल का प्रश्न उठाते हैं, तब भी एक ऐसी ही चीज़ घटित होती है। उल्लेखनीय है कि ग्रियर्सन भारत की तमाम भाषाओं के उच्चारण के लिए रोमन लिपि के इस प्रयोग को 'दूसरी लिपि' की तरह देख रहे थे।[33] एक प्रशासक के तौर पर ग्रियर्सन का मानना था कि जिस तरह ब्रिटिश शासन भारत के क्षेत्रीय, धार्मिक या जातिगत विभाजनों का शमन करते हुए अपना एकक्षत्र राज स्थापित कर सकता है, उसी तरह भारतीय भाषाओं की लिपिगत भिन्नताओं के ऊपर रोमन लिपि की एकरूपता भी क़ायम की जा सकती है। उन्होंने 1918 में भारतीय इतिहास का हवाला देते हुए कहा था कि मुग़लों ने इस ख़्वाब को हक़ीक़त में बदल कर दिखाया था : 'फ़ारसी के मामले में मुग़लों ने यही करके दिखाया था... और मुझे भी कोई कारण नज़र नहीं आता कि हम अपने अक्षरों के ज़रिए यह काम नहीं कर सकते।'[34] ग्रियर्सन अक्सर कहा करते थे कि लिपि की भिन्नताएँ उपनिवेश को छिन्न-भिन्न करने की क्षमता रखती हैं, जबकि रोमन लिपि की एकरूपता इस एक मज़बूत आधार प्रदान कर सकती है। दरअसल, समग्र भारत के लिए 'दूसरी लिपि' की सार्वभौम योजना साम्राज्य के अभियान का ही अंग थी, इसलिए उसे उपनिवेशित इलाक़ों पर आयद की गई जकड़ में ढील देने का प्रमाण नहीं माना जा सकता था। भारतीय लिपियों की अनंत भिन्नताओं तथा इन विविधताओं का समाहार करने में रोमन लिपि की अंतर्निहित अक्षमता के चलते मजीद के वृत्तांत में यह स्वप्न बिखर जाता है। अपनी बात मज़बूत करने के लिए मजीद ग्रियर्सन के निजी फ़ैसलों को सामने रखते हैं, लेकिन इससे यह नुक़्ता ओझल नहीं हो जाता कि उपमहाद्वीप में भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में अंतरित करने का प्रशासनिक इतिहास ख़ासा लंबा और पेचीदा रहा है।

इस इतिहास में एक ख़ास व्यक्तित्व जॉन बोर्थविक गिलक्रिस्ट का है जो सर्जरी छोड़ कर प्राच्यवाद की शरण में आए थे, और जिन्हें कलकत्ता में स्थापित फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के पहले प्रिंसिपल होने का श्रेय जाता है। गिलक्रिस्ट अपनी किताब — *अ ग्रैमर ऑफ़ हिंदुस्तानी लैंग्वेज* में कहते हैं कि 'हिंदुस्तानी के निर्माण' को तीन अलग-अलग अथवा 'सहसंबंधी' भाषाओं — अरबी, फ़ारसी और 'हिंदुवी' के मिश्रण के रूप में समझा जाना चाहिए।' ज़ाहिर है कि मूल रूप से हिंदुस्तानी बोलने वालों के लिए इससे कोई ख़ास दिक़्क़त पैदा नहीं होती, परंतु बाहरी व्यक्ति के लिए एक ही भाषा के स्वर और चिह्नों की यह बहुलता शब्दों के सही उच्चारण (ऑर्थोपी) तथा वर्तनी के लिहाज़ से परेशानी का सबब बन जाती है। अपने पाठकों का काम आसान करते हुए गिलक्रिस्ट भाषा के संक्षिप्त इतिहास के साथ उसकी लिपियों का इतिहास भी दर्ज करते हैं :

[33] वही : 111.

[34] वही.

चित्र-2

SYNOPSIS OF ORTHOGRAPHY AND ORTHOEPY FOR THE

THE VOWELS.

a	ball,	*bal* بال hair ;	(1) ا ا *alif* آ آ—*mumdoodu*, long. (21) ع ع ع *aen* عا عا *alif.* (36) आ akar ा kandŏŏn } *deerghun* or *gŏŏr*, i. e. *long*. v. *u*.
	gall,	*gal* گال the cheek ;	
	hall,	*hal* حال ſtate ;	
	pall,	*pal* پال a ſail ;	
	war,	*war* وار a blow ;	
e	ere,	*eree* ایڑي the heel ;	(32) ي ي ي ـ ـ *ye* mujhool or farſee. ع جي اي compounds ; ſee above. (41) ए ekar. े ekmut.
	there,	*tera* تیرا thine ;	
	where,	*herna* ہیرنا to ſeek ;	
	tête,	*teta* تیتا that much ;	
	pêche,	*peſh* پیش before ;	
	père,	*pher* پھیر again ;	
	Ætna,	*etna* اِتنا ſo much ;	
ee	beer,	*beer* بیر a hero ;	ي ي ي ـ ب *ye* maroof or tazee. See (32) *above*. اي عي ئي (38) ई ी eekar. and ſometimes (26) य yukar.
	beech,	*beech* بیچ between ;	
	feel,	*feel* فیل an elephant ;	
	peer,	*peer* پیر a ſage ;	
	sheer,	*sheer* شیر milk ;	
i	bill,	*bil* بل a hole ;	zer or *kuſru* ا ع ي ـ (37) इ ि ikar.
	fin,	*ſin* سن age ;	
	din,	*din* دن day ;	
o	gore,	*gor* گور a grave ;	(30) و *wao* mujhool or farſee. او *alif-wao* عو *aen-wao*. (43) ओ okar. ो kurmut.
	ore,	*or* اور a ſide ;	
	rogue,	*rog* روگ diſeaſe ;	
	ſhore,	*ſhor* شور a noiſe ;	
ŏ	gone,	*gŏnab* گناہ a crime ;	ُ *peſh*. اُ عُ *alif*-and *aen-peſh*. See *o* above, or *okar* and *kurmut*.
	cod,	*khŏda* خدا god ;	

...s the Perſian and Naguree ... onvertible with ... ually written or pronounced

e	*rikabee* رکابي a diſh,	*rikebee* رکیبي
o	*burabur* برابر equal,	*burobur* بروبر
oo	*thasna* ٹھاسنا to cram,	*thooſna* ٹھوسنا
ou	*lana* لانا to bring,	*louna* لونا
u	*chakoo* چاکو a penknife,	*chukkoo* چکو
a	*pyzer* پیزیر ſlippers,	*pyzar* پیزار
i	*metana* میٹانا to eraſe,	*mitana* مٹانا
o	*mera* میرا my,	*mora* مورا
oo	*age* آگے before,	*agoo* آگو
u	*deg* ڈیگ a ſtep,	*dug* ڈگ
y	*ber* بیر a wild berry—	*byr*, ſo called بیر
ye	*ek* ایک one,	*yek* یک
a	*peechhe* پیچھی behind,	*pachhe* پاچھي
i	*deewar* دیوار a wall,	*diwar* دوار
o	*chheelna* چھیلنا to pare,	*chholna* چھولنا
oo	*kubhee* کبھي ever,	*kubhoo* کبھو
u	*peechharee* پیچھاري the rear	*puchharee* پچھاري
a	*mitee* مٹي earth,	*matee* ماٹي
ee	*bihan* بہان the dawn,	*beehan* بیہان
u	*hirn* ہرن a deer,	*hurn* ہرن
a	*chhorna* چھوڑنا to free,	*chharna* چھاڑنا
e	*chop* چوپ reſin,	*chep* چیپ
oo	*non* نون ſalt,	*noon* نون
ou	*ſoburn* سوبرن gold,	*ſouburn* سوبرن
ŏŏ	*ŏmr* عمر age,	*ŏŏmr* عمر
i	*mŏhar* مہار a camel's bridle	*mihar* مہار

युरोपीय भाषाओं की तरह हिंदुवी बाएँ से दाएँ लिखी जाती है और इसी तरह पढ़ी जाती है, जबकि फ़ारसी इसके उलट लिखी जाती है। हिंदुवी की लिपि नागरी कहलाती है जोकि नगर नामक शब्द से उत्पन्न हुई है। पहले पहल इसका उपयोग यहीं हुआ था। लेकिन हमें यह नहीं पता कि इसकी उत्पत्ति कब हुई या इसके आविष्कार का श्रेय किसे दिया जाए... जब मुसलमानों ने आग और तलवार के दम पर इस देश में अपनी धर्म-संस्कृति का झंडा फहराया तो उस समय भारत में नागरी की वही हैसियत थी जो आज के युरोप में रोमन वर्णमाला रखती है। लेकिन अब उस पर अरबी और फ़ारसी का आधिपत्य स्थापित हुए ज़माना बीत गया है। [35]

लेकिन हिंदुस्तानी की मिश्रित प्रकृति को समझने के लिए गिलक्रिस्ट ने नागरी और रोमन अक्षरों के बीच जिस तरह का तुलनात्मक ढाँचा खड़ा किया है, उसे चलताऊ टिप्पणी की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। दरअसल, इसके ज़रिए गिलक्रिस्ट भाषा के सांस्कृतिक लोक में पहली बार सेंधमारी

[35] जॉन गिलक्रिस्ट (1796) : 4.

करते हैं। उनका कहना था कि रोमन वर्णमाला में लिप्यंतरण का मानक स्थापित करके पराई संस्कृति तथा भाषा के जटिल तंत्र को ज़्यादा सफ़ाई से समझा जा सकता है। अपने तर्क की उपयोगिता साबित करने के लिए गिलक्रिस्ट न केवल एक विस्तृत सूची प्रस्तुत करते हैं, बल्कि हिंदुस्तानी शब्दों के रोमन में लिप्यंतरण के प्रारंभिक नियम भी सुझाते हैं। हालाँकि उनके ग्रंथ की अधिकांश विषय-वस्तु परंपरागत परिचर्चाओं — व्याकरण के तत्त्वों, शब्द वर्ग, जेंडर, विभक्ति के रूप, सर्वनाम तथा विशेषण आदि से ताल्लुक़ रखती है, परंतु कहना होगा कि ग्रंथ में उपरोक्त तर्क सर्वाधिक उल्लेखनीय है। गिलक्रिस्ट उच्चारण-विज्ञान पर केंद्रित संक्षिप्त खंड में यह बात दोहराते हुए 'जिज्ञासु विद्वान' से आग्रह करते हैं कि वह प्रस्तुत सारांश का पाठ के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के तौर पर इस्तेमाल करे।[36] अपना दावा मज़बूत करने के लिए गिलक्रिस्ट एक विस्तृत सारणी अथवा अपनी पद्धति की एक 'रूपरेखा' पेश करते हैं (देखें, चित्र-2) तथा पाठक को सलाह दे डालते हैं कि उनकी पुस्तक का उपयोग करने के लिए इसे संदर्भ की तरह इस्तेमाल किया जाए।

गिलक्रिस्ट अपनी भाषाई विचारधारा में दो नुक़्तों का अक्सर उल्लेख करते हैं। इनमें पहला नुक़्ता यह है कि उनका नज़रिया सरकार की ज़रूरतों से तय हुआ है क्योंकि उनका पहला मक़सद यह था कि अंग्रेज अधिकारियों को हिंदुस्तानी ज़बान से कैसे परिचित कराया जाए। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में पदार्पण करने के बाद गिलक्रिस्ट के लिए यह नुक़्ता और भी अहम हो गया। दूसरे, नुक़्ते के तहत गिलक्रिस्ट यह दलील देते हैं कि भाषा सीखने का यह तरीक़ा औपनिवेशिक सरकार के लिए ज़्यादा उपयुक्त है। मिसाल के लिए देखें कि गिलक्रिस्ट 1802 में पहली बार प्रकाशित *द स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडिया गाइड टू द हिंदुस्तानी* पर जोशीला वार यूँ करते हैं कि चूँकि इसमें उच्चारण-विज्ञान तथा वर्तनी-शास्त्र पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, इसलिए सरकार के हिसाब से वह एक फ़ालतू चीज़ है। वे 'मि. लेबेडेफ़ द्वारा संकलित पूरब की भाषाओं के बेसुरे राग' की इसलिए मज़म्मत करते हैं क्योंकि उनकी किताब के संभावित पाठकों — औपनिवेशिक लेखक और अधिकारियों की नज़र में 'दुनिया के इस हिस्से में चंद महीनों के क़याम के बाद ही उन्हें इस सच्चाई का भान हो गया था कि लेख की सहायता से स्थानीय भाषाओं को जानने-समझने में लगी उनकी मेहनत पूरी तरह बेकार साबित हुई है।'[37] गिलक्रिस्ट कहते हैं कि इसके विपरीत, उनके तरीक़े में इस बात का ख़याल रखा गया है कि सरकार के नौजवान कारकुन पिछले विद्वानों के त्रुटिपूर्ण वृत्तांतों, मुंशियों (स्थानीय वसीक़ानवीस या क्लर्क) अथवा भाषा के ऐसे स्थानीय अध्यापक, जो युरोपीय आस्वाद और परंपरा से अपरिचित हैं, द्वारा पैदा की गई विकृतियों को जज़्ब न कर बैठें।' गिलक्रिस्ट अपने पाठकों ('कारकुन और कैडेट्स' तथा भारत-प्रवास की तैयारी कर रहे तमाम अंग्रेज अफ़सरों व सम्मानित व्यक्तियों) को इस तथ्य की याद दिलाना नहीं भूलते कि कंपनी के कर्मचारियों के लिए स्थानीय भाषा सीखने की अनिवार्यता का आदेश गवर्नर जनरल वेलेज़ली द्वारा जारी किया गया था। गिलक्रिस्ट ने इस उद्धरण की ऐन शुरुआत में 11 दिसंबर, 1798 को जारी आदेश का विस्तार से उल्लेख करते हुए उसका निम्नलिखित प्रावधान भी शामिल किया है : 'महामहिम कंपनी के लोक-

[36] वही : 294-300.

[37] जॉन बोर्थविक गिलक्रिस्ट (1808) : गिलक्रिस्ट यहाँ हेरासिम लेबेडेफ़ की पुस्तक की ओर इशारा कर रहे हैं. देखें, लेबेडेफ़ (1801).

प्रशासकों को एतद् द्वारा सूचित करते हैं कि पहली जनवरी, 1801 के पश्चात... क़ानूनों, नियमों तथा भाषाओं के ज्ञान की परीक्षा — जिसे अब पूर्वोक्त कार्यालयों में काम करने के लिए अनिवार्य घोषित कर दिया गया है — उत्तीर्ण किए बग़ैर किसी भी व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया जाएगा।'[38] गिलक्रिस्ट की कार्य-योजना में यह बात शुरू से ही साफ़ नज़र आती है कि उनका मक़सद रोमन लिपि के रास्ते शासन और मानकीकृत भाषा का संश्रय करना है।

गिलक्रिस्ट की दूसरी दलील से, जिसे वे गाहे-बगाहे दोहराते रहते हैं, ज़ाहिर हो जाता है कि वे 'प्राच्य' भाषाओं से संबंधित समकालीन विद्वत्ता और सिद्धांतों — ख़ास तौर पर भारतीय तथा अन्य एशियाई भाषाओं के संबंध में जोंस की मान्यताओं से एक अलग राह चुन रहे थे। उल्लेखनीय है कि इस समय तक जोंस की मान्यताएँ मानक की तरह स्थापित हो चुकी थीं और उन्हें प्रमाण की प्रतिष्ठा हासिल हो चुकी थी। जैसा कि गिलक्रिस्ट की किताब *अ ग्रैमर ऑफ़ हिंदुस्तानी लैंग्वेज* के ऊपर उद्धृत अवतरण से ज़ाहिर होता है, कभी-कभार वे जोंस की इस भाषाशास्त्रीय मान्यता का उल्लेख कर दिया करते थे कि उत्तर भारत की लगभग तमाम भाषाएँ संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं, परंतु जोंस की वर्तनी एवं लिप्यंतरण संबंधी अन्वीक्षाओं को उन्होंने ख़ारिज कर दिया था। औपनिवेशिक शासन तथा एशियाई भाषाओं की वर्तनी को रोमन लिपि में व्यक्त करने का यह वैचारिक युग्म गिलक्रिस्ट के लिए इस तौर पर उपयोगी रहा कि इसके आधार पर उन्होंने भाषा के एक नए सिद्धांत की रचना कर डाली। ग़ौरतलब है कि गिलक्रिस्ट का यह भाषा-सिद्धांत तुलनात्मक भाषाशास्त्र की स्थापित परंपराओं के विपरीत वाक्य-विन्यास अथवा व्याकरण के बजाय वर्ण-विन्यास पर ज़्यादा ज़ोर देता था। यह एक ऐसा सिद्धांत था जो गिलक्रिस्ट को भाषा की कठोर इतिहासवादी समझ से अलग रास्ता चुनने का अवसर देता था। इसीलिए, गिलक्रिस्ट के कृतित्व से एक अलग तरह का इतिहास उभरता है जो अपनी समानता का दावा वर्ण-विन्यास की प्रमुखता के ज़रिए करता था।

हिंदुस्तानी भाषाशास्त्र में अपने एक परवर्ती और किंचित मानकीकृत सिद्धांत (1810) में गिलक्रिस्ट इतिहास के एक भिन्न विचार की अवतारणा करते हैं। उनका तर्क है कि 'अंग्रेज़ी की तरह हिंदुस्तानी के पास भी कोई उपयुक्त अक्षर नहीं है... जिस तरह अंग्रेज़ी के लिए हम ओल्ड सैक्सन या जर्मन अक्षरों का इस्तेमाल करते थे, हिंदुस्तानी के लिए नागरी वही काम करती थी; तथा उनके फ़ारसी-अरबी के अक्षर हमारे रोमन अक्षरों का काम करते थे। अब रोमन वर्णमाला इतनी लोकप्रिय हो गई है कि उसने हमारी मातृभाषा की पिछली तमाम पहचानें मिटा दी हैं।'[39] गिलक्रिस्ट यहाँ जिस बात की ओर इशारा कर रहे हैं उसका जोंस के भाषाशास्त्र में निहित इतिहासवाद से कोई सरोकार नहीं है, बल्कि उसमें ऐतिहासिक तुलना का एक ऐसा अलग भाव स्थित है जो विभिन्न भाषाओं के मापन और पठन हेतु केवल स्वरगत परिवर्तन को ही आधार मानता है। लेकिन, दिलचस्प है कि गिलक्रिस्ट यहाँ भी भाषाशास्त्र के समकालीन परिदृश्य, ख़ास तौर पर भारोपीय समूह की उन गतिविधियों से कोई वास्ता नहीं रखते, जो ऐसे स्वरगत परिवर्तनों के मूल में जाना चाहती हैं। गिलक्रिस्ट वर्तनी तथा उच्चारण के मूल स्वरूप, विभक्ति तथा व्युत्पत्ति को उनकी इतिहासवादी संरचना से विच्छिन्न करके विभिन्न भाषाओं (अथवा हिंदुस्तानी जैसी मिश्रित भाषाओं) को एक स्व-केंद्रित प्रणाली में संयोजित कर देते हैं

---

[38] गिलक्रिस्ट.

[39] जॉन बोर्थविक गिलक्रिस्ट (1810).

जिसमें भाषाओं की आपसी तुलना आंगिकता अथवा सांदर्भिकता के एकरेखीय मॉडल के बजाय वर्तनी की समतुल्यता अथवा ध्वनिगत अधिग्रहण का अनुसरण करने लगती है।

गिलक्रिस्ट को अपने आलोचकों से अक्सर शिकायत रहती थी कि वे यह भूल गए हैं कि 'हिंदी-रोमन वर्तनी की योजना वर्णक्रम के उन्हीं सिद्धांतों का विस्तार थी जिन्हें सामने रखकर ही किसी विदेशी भाषा (जिनके वर्ण हमारी अपनी भाषा से अलग होते हैं) का नक़्शा तैयार किया जाता है।' अपने इस तर्क के पक्ष में गिलक्रिस्ट का आगे यह कहना था कि अपरिचित वर्णों से 'पाठक के मस्तिष्क में न उनकी विभिन्न अर्थ-शक्तियों का बोध जग पाता है, और न ही भाषा के अंगों के उपयुक्त उच्चारण की योग्यता पैदा हो पाती है।' वर्तनी एवं उच्चारण के इन सार्वभौम और प्राकृतिक सिद्धांतों का समाहार करते हुए गिलक्रिस्ट अंततः इस घोषणा पर पहुँचे थे :

> अगर मनुष्य द्वारा अपनी सहज बुद्धि के आधार पर रचित दृश्यमान ध्वनियों के शाब्दिक चिह्नों की बात की जाए तो मेरी प्रणाली के विरुद्ध उठाई गई सामान्य आपत्तियाँ बिल्कुल वाजिब नज़र आएँगी, परंतु अगर फ़ारसी के वर्णक्रम में काफ, ज़ुबर, रे, दाल, जबर, नून आदि को रोमन वर्णमाला में के, यू, आर, डी, यू, ऐन आदि के अलावा नहीं दर्शाया जा सकता तो मैं कहूँगा कि मेरी प्रणाली पूरी तरह दुरुस्त है।[40]

यहाँ दलील दी जा सकती है कि गिलक्रिस्ट द्वारा प्रस्तुत हिंदुस्तानी के वर्तनीमूलक इतिहास की यह निर्मिति संस्कृत के भाषाई लोक में ज़्यादा दिखाई देती थी। शेल्डन पोलॉक इसे 'संस्कृत के चित्रात्मक चिह्नों की विलक्षण अनुकूलनीयता' कहकर लक्षित करते हैं। पोलॉक कहते हैं कि 'लैटिन की शताब्दियों लंबी यात्रा के दौरान रोमन लिपि में ऐसा कोई बदलाव नहीं आया जिससे उसके केंद्रीय स्वरूप में किसी प्रकार का बुनियादी विचलन पैदा होता हो, जबकि संस्कृत की लेखन-शैली में चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दी यानी नागरी लिपि के बढ़ते प्रचलन से पहले ऐसा कोई 'विधेयात्मक' तत्त्व विकसित नहीं हो पाया था। इसका परिणाम यह हुआ कि 'लिपियों के अंदर एक ऐसी क्षेत्रीय निजता पनपने लगी जो सौंदर्य की स्थानीय अनुभूतियों से चालित हो रही थी। और इसकी गति इस क़दर तेज़ थी कि आठवीं सदी तक आते-आते वही सर्व-व्यापी भाषा — जिसके साहित्यिक स्वरूप में अभी तक कोई विचलन नहीं आया था — अब इतनी अलग-अलग लिपियों में लिखी जाने लगी कि उन्हें समझने के लिए अलग से अध्ययन करना पड़ता था।'[41] इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि गिलक्रिस्ट संस्कृत में चिह्नों की एक सुस्थापित संस्कृति की अनुपस्थिति का तर्क इसलिए दे रहे हैं ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि अगर भारत में इस क्लासिकल संपर्क-भाषा को इतनी भिन्न लिपियों में लिखा जा सकता था तो औपनिवेशिक शासन की ज़रूरतों को देखते हुए संस्कृति से उत्पन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिए रोमन सहित अन्य लिपियों का इस्तेमाल क्यों नहीं किया जा सकता! यह ठीक है कि गिलक्रिस्ट जीवन भर इस जुस्तजू में लगे रहे कि हिंदुस्तानी के लिए सही वर्तनी का साँचा कैसे विकसित किया जाए। अलग-अलग समय पर प्रकाशित अपनी कृतियों में वे वर्तनी के संशोधित संस्करण भी प्रस्तुत करते रहे, लेकिन उनका समूचा कृतित्व हमेशा इस उद्देश्य से प्रेरित रहा कि भारत में वर्तनी के इतिहास की एक ख़ास परिघटना को औपनिवेशिक शासन की सेवा में कैसे योजित किया जाए।

---

[40] जॉन गिलक्रिस्ट : 2.

[41] शेल्डन पोलॉक (2006) : 273-4.

जोंस तथा गिलक्रिस्ट के साथ इस किंचित लंबी सैर का मक़सद दरअसल दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक भाषाशास्त्र के जटिल इतिहास पर रोशनी डालने के साथ उन ख़ास क्षणों को भी चिह्नित करना था जिनसे कतिपय ऐसे दृष्टांतों का पता चलता है जो सर्वेक्षण की बौद्धिक संरचना के समानांतर चल रहे थे। रोमन लिपि के ज़रिए भारतीय भाषाओं के लिए एक सार्वभौम 'दूसरी वर्णमाला' गढ़ने की इस मुहिम में ग्रियर्सन और गिलक्रिस्ट की विफलता के साथ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि दोनों ही मामलों में 'भाषा की महारत' (कमांड ऑफ़ लैंग्वेज) का यह पैराडाइम भी विफल हो गया। हालाँकि इसकी विफलता के कारण अलग-अलग थे, परंतु उनके बीच एक सह-संबंध भी था। लिहाज़ा एलएसआइ को एक अनूठी उपलब्धि तथा मुख्यत: ग्रियर्सन के व्यक्तित्व की झाँकी के रूप में देखने के बजाय इसे औपनिवेशिक काल के दौरान भाषाशास्त्र के अध्ययन में आने वाले बदलावों के संदर्भ और ब्रिटिश भारत को भाषा के एक कौतुकपूर्ण क्षेत्र के रूप में देखना भी इतना ही रुचिकर होगा। मैंने एक अन्य लेख में कहा है कि एलएसआइ एक ऐसी परियोजना थी जो अंतत: 'अंग्रेज़ों के भारतीय अभिलेखागार में निहित बुनियादी अंतर्विरोध का समाधान करने में सफल रही। यह अंतर्विरोध भारत को समझने की प्राच्यवादी आकांक्षा तथा भारत को एक शासकीय स्पेस में रूपांतरित करने की औपनिवेशिक मुहिम के बीच स्थित था। वह विभिन्न प्रकार की ऊर्जाओं को स्पष्ट तुलनात्मक सारणियों में बाँटना चाहता था। सच तो यह है कि अभिलेखागारों में जहाँ-तहाँ बिखरी तमाम सामग्री — विमर्श, ग्रंथ, आधिकारिक पत्राचार, तुलनात्मक सारणियाँ, सर्वेक्षण के नक़्शे, जनसंख्या के आँकड़े और सांख्यिकीय रपटें — इस सर्वेक्षण में एक जगह इकट्ठा हो गईं यह संक्षिप्त और कार्यक्रम-केंद्रित सामग्री न केवल भारतीय भाषाओं के सावयविक-ऐतिहासिक लक्षणों का लेखा पेश करती है, बल्कि भारत को एक ऐसे भाषाई क्षेत्र के रूप में भी प्रस्तुत करती है जिसे केवल तुलनात्मक पद्धतियों के ज़रिए ही जाना जा सकता है।[42] दूसरे शब्दों में कहा जाए तो एलएसआइ भारतीय भाषाओं को औपनिवेशिक शासन की सेवा में नियोजित करने की पूर्ववर्ती कोशिशों का समेकित परिणाम थी। बाद की तमाम बहसों का बृहत्तर और मिश्रित ढाँचा भी इसी की देन था। सर्वेक्षण के अभिलेखीय पक्षों पर मजीद का काम निस्संदेह श्रमसाध्य है, परंतु इससे यह ध्वनित होता है मानो इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बग़ैर सर्वेक्षण का महत्त्व तथा उपनिवेश के इतिहास में उसका स्थान कुछ विस्मृत हो जाता।

2

भाषाई सर्वेक्षण की सहवर्ती पुस्तक — *नेशन ऐंड रीजन* ('राष्ट्र और क्षेत्र') में तत्कालीन भारत की देसी ज़बानों (वर्नाकुलर्स) के पारिभाषिक स्वरूप पर एलएसआइ के प्रभाव की चर्चा करते हुए मजीद कहते हैं कि क्षेत्रीय भाषाएँ 'विचार की विषय-वस्तु एवं हस्तक्षेप' दोनों रूपों में काम करती थीं। इस प्रसंग में ग्रियर्सन उस बृहत्तर समूह की एक महती विभूति के रूप में उभरते हैं जो इन भाषाओं के गठन से गहरा सरोकार रखती थी।[43] इस जिल्द से एलएसआइ की संरचना और ग्रियर्सन के चिंतन के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रकट होते हैं : पहला यह कि तत्कालीन दक्षिण एशिया के गठन में

---

[42] बैदिक भट्टाचार्य (2016) : 680.

[43] जावेद मजीद की समीक्ष्य पुस्तक का सहवर्ती खंड. जैसा कि उल्लेख किया गया है, इसका शीर्षक *नेशन ऐंड रीजन* है. अगली पाद-टिप्पणियों में हम इसके आद्याक्षरों — एन.आर. का प्रयोग करेंगे. देखें, एन.आर. : 6.

वर्नाकुलर, क्षेत्र तथा राष्ट्र जैसे विचार किस तरह की भूमिका अदा कर रहे थे; दूसरे, विचारों के इसी समुच्चय में राजनीति की कुछ बुनियादी भावनाएँ, ख़ास तौर पर धार्मिक राष्ट्रवाद तथा आर्य-श्रेष्ठता की ज्वलंत अवधारणा किस प्रकार ध्वनित हो रही थीं। मजीद ने सर्वेक्षण के ऐसे विभिन्न सूत्रों को सावधानी से दर्ज किया है जिनसे भारत की देसी ज़बानों (वर्नाकुलर) के संबंध में ग्रियर्सन का नज़रिया ज़ाहिर होता है। ग़ौरतलब है कि ग्रियर्सन ने यह काम अपने भारतीय सहयोगियों के साथ मिल कर किया था। इससे यह भी पता चलता है कि सर्वेक्षण के अंतिम स्वरूप के पीछे क्षेत्रीय दावेदारी कैसे एक केंद्रीय शक्ति की तरह काम कर रही थी। इस प्रकार, देसी भाषाओं की दुनिया को साकार करने के लिए पहले अध्याय में भोला लाल दास तथा दरभंगा के महाराजा जैसे उत्साही लोगों के साथ सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषाविद, जिन्होंने 1927 में *ऑरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट ऑफ़ बंगाली लैंग्वेज* की रचना की थी, एक साथ विराजमान हैं। ग्रियर्सन के बहुत-से सहयोगी उनसे इसलिए जुड़े क्योंकि ग्रियर्सन को भारतीय भाषाओं का विशेषज्ञ माना जाता था और इस मामले में उनका दुनिया भर में नाम था। ऐसे लोग उनका नाम लेकर या तो अपना क्षेत्रीय एजेंडा आगे बढ़ाना चाहते थे या फिर अपना करियर बनाना चाहते थे। दूसरी तरफ़, कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने ग्रियर्सन को अनुपलब्ध पुस्तकें या पांडुलिपियाँ अथवा स्थानीय भाषा में अपनी विशेषज्ञता उपलब्ध कराकर 'सूचनादाता' की भूमिका अदा की थी। एलएसआइ की परियोजना में संस्कृत के बजाय समकालीन भारतीय भाषाओं के प्रति ज़्यादा झुकाव दिखाई देता है। इससे यह प्रवृत्ति मज़बूत हुई कि क्षेत्रों को उनकी विशिष्ट भाषा के अर्थ में परिभाषित किया जाने लगा। ग्रियर्सन, सर्वेक्षण तथा भारतीय विद्वानों के बीच यह सहकार इस बौद्धिक उपक्रम का उल्लेखनीय पक्ष था।

लेकिन सर्वेक्षण के भीतर और उसके बाहर, क्षेत्रीय अस्मिताओं तथा उनके ऊपर मेहराब की तरह उभरती 'भारत' की एक राष्ट्रीय अस्मिता का संबंध ग्रियर्सन के सामने कुछ नए तरह के मुद्दे पेश करता था। इनमें एक मुद्दा यह था कि क्षेत्रीय अंशों पर आधारित यह राष्ट्रीय अस्मिता इन अंशों के योगफल से ज़्यादा बैठती थी। यह एक ऐसा पेचीदा संबंध था जिसे औपनिवेशिक भाषाशास्त्र ने भारतीय भाषाओं के इतिहासीकरण और उनके आपसी संबंधों को संस्कृत की मध्यस्थता के ज़रिए हल करने की कोशिश की। एलएसआइ का ज़ोर उत्तर भारत पर था। मद्रास प्रेसीडेंसी सहित दक्षिण भारत का विशाल क्षेत्र उसके दायरे से बाहर पड़ता था। दूसरे, इस परियोजना में अधिकांशत: उन भाषाओं पर विचार किया गया था जिनका विकास संस्कृत से हुआ था। यही वजह थी कि इन भाषाओं को भारोपीय भाषा के परिवार में रखा गया। इसका मतलब यह था कि एक तरफ़ ग्रियर्सन को औपनिवेशिक भाषाशास्त्र की पिछली पीढ़ियों के योगदान का अनुसरण करना पड़ा तो दूसरी तरफ़ अपनी पद्धतियों में स्थापित परंपराओं के अनुसार तरमीम करनी पड़ी। औपनिवेशिक भाषाशास्त्र के इतिहास में शायद सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग 'तीसरी वर्षगाँठ का व्याख्यान' था जो विलियम जोंस ने 1786 में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के समक्ष प्रस्तुत किया था। अपने इस व्याख्यान में जोंस ने तुलनात्मक/ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की प्रारंभिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन जैसी भाषाओं में कुछ ऐसे साझे लक्षण हैं जिन्हें केवल संयोग के खाते में नहीं डाला जा सकता। जैसा कि बाद में 'भारोपीय भाषा की संकल्पना' से यह बात पुख़्ता भी हुई, जोंस के मुताबिक़ इन भाषाओं के आपसी लक्षण इतने व्यापक थे कि उन्हें एक दूसरे के

सह-संबंध और उद्भव के किसी साझे लेकिन विलुप्त स्रोत के बग़ैर नहीं देखा जा सकता था ('आद्य भारोपीय भाषा')। जैसा कि रेमंड श्वॅाब, मॉरिस ऑलेंडर तथा अन्य विद्वानों का कहना है, जोंस की इस प्रस्तावना और इस पर अन्य औपनिवेशिक अधिकारियों जैसे कोलब्रुक अथवा फ़्रांज़ बोप, फ्रेडरिख़ श्लेगल, जैकब ग्रिम तथा रैसमस रस्क जैसे युरोपीय भाषाशास्त्रियों द्वारा की गई टीका-टिप्पणियों के कारण दुनिया में मानविकी का ज्ञान रैडिकल ढंग से बदल गया।[44] फर्दिनांद दे सस्यूर का कहना है कि जोंस का काम क्लासिकल भाषाशास्त्र से एक अलग रास्ता चुनता है। इसी तरह मिशेल फ़ूको का मानना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र के क्षेत्र में जोंस का योगदान उन बुनियादी चालकों में शामिल है जिनसे ज्ञान की आधुनिक मीमांसा का ढाँचा तैयार हुआ है।[45] इस तरह, यह साफ़ हो जाता है कि जब ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं पर काम करना शुरू किया तो उनके सामने इस स्थापित परंपरा का पालन करने के अलावा कोई चारा नहीं था।

औपनिवेशिक भाषाशास्त्र की इस परंपरा के प्रति ग्रियर्सन की कृतज्ञता एलएसआइ के परिचय-खंड से स्पष्ट हो जाती है। मसलन, इस लंबी परंपरा के एक प्रतीक के तौर पर कोलब्रुक के निबंध 'ऑन द संस्कृत ऐंड प्राकृत लैंग्वेजेज' (1801) जिसमें उन्होंने क्लासिकल संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश को भाषाई विकास की विभिन्न अवस्थाओं का संकेतक बताया था, का अनुसरण करते हुए एलएसआइ द्वारा विभिन्न देसी ज़बानों के उदय (मुख्यत: उत्तर भारतीय) का एक विस्तृत लेखा तैयार किया गया। देसी ज़बानों के उद्भव के इस काल को ग्रियर्सन भारत में वर्नाकुलर्स की सहस्राब्दि (वर्नाकुलर्स मिलेनियम) कहते थे। एक स्तर पर यह विवरण तुलनात्मक भाषाशास्त्र की उस ऐतिहासिक भावना का सहयात्री दिखाई पड़ता है जिसे फ़ूको भाषा की आधुनिक संकल्पना का प्रारूपिक तत्त्व कहते हैं। [46] इस फ्रेम में समय या इतिहास को भाषा का आंतरिक अवयव माना जाता है। वह एक चरम कारणवादी संरचना को चिह्नित करता है। इसमें ख़ुद भाषा को एक ऐसी जैविक देह के रूप में कल्पित किया जाता है जिसका पहले जन्म होता है, फिर विकास होता है और अंतत: मृत्यु हो जाती है। यह पुनर्कल्पना एक ऐसी गुंजाइश प्रदान करती है जिसमें किसी ख़ास भाषा को पारिवारिक संबद्धता अथवा भाषाओं के एक निश्चित परिवार की सदस्यता (भारोपीय, सामी इत्यादि) के अर्थ में देखा जा सकता है। इससे विभिन्न भाषाओं को पृथक करने और उनके प्रयोक्ताओं को अलग-अलग भाषाई/जातीयतावादी समूहों में बाँटने की संभावना भी खुलती है। इस सूत्रीकरण में भाषाशास्त्र और एथ्नॉलजी और जैसा कि उन्नीसवीं सदी में जाकर साबित हुआ, नस्ल-विज्ञान के सह-संबंधों को अलग से देखने की ज़रूरत नहीं है। जोंस के यहाँ अपने पहले अवतरण में भी भारोपीय भाषाई परिवार का विचार शास्त्र और एथ्नॉलजी की भित्ति पर खड़ा था। ट्राउटमैन के मुताबिक़ जोंस एशियाटिक सोसायटी में दिए गए अपने नौ 'वार्षिक व्याख्यानों' (1784-92) में 'मोज़ेक एथ्नॉलजी' की एक बुनियादी संरचना पर काम कर रहे थे। इस संरचना का सहारा लेकर वे प्राच्यवादी विद्वानों द्वारा संगृहीत सामग्री का कुछ इस तरह इस्तेमाल करना चाहते थे कि 'बाइबल के पक्ष में विवेकवादी तर्कणा कर सकें, या ज़्यादा सटीक ढंग से कहें तो मानव इतिहास के प्रारंभिक काल का एक मोज़ेक

[44] जॉन बोर्थविक गिलक्रिस्ट, रेमंड श्वाब (1984) तथा मॉरिस ऑलेंडर (2008).

[45] फ़र्दिनांद दे सस्यूर (1916) : 14.

[46] मिशेल फ़ूको (2002) : 319-21.

विवरण तैयार कर सकें।'[47] *बाइबिल* का यह कालक्रम — जिसे आइज़ैक न्यूटन की मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तक *दि क्रोनॉलजी ऑफ़ ऐन्शेंट किंगडम्स एमेंडेड* (1728), जैकब ब्रायंट की रचना अ न्यू सिस्टम; या तीन खंडों में प्रकाशित (1774-76) *ऐन एनैलिसिस ऑफ़ एन्शेंट मायथॉलजी* से ग्रहण किया गया था — जोंस के लिए कोई अस्थायी बौद्धिक शगल नहीं था, बल्कि यह भारत के अतीत को पुनर्कल्पित करने का एक सचेत प्रयास था। जोंस इसके सारतत्त्व का मौजूदा बौद्धिक परियोजना एवं औपनिवेशिक शासन की सेवा के लिए इस्तेमाल करना चाहते थे। अगर भारोपीय भाषा-परिवार की संकल्पना युरोप और एशिया के साझे अतीत की ओर संकेत करती थी तो बाइबिल का यह परिप्रेक्ष्य युरोप के उत्थान और एशिया के पतन के विचार को स्थापित करने के लिए तैयार किया गया था। ज़ाहिर है कि इसका उद्देश्य प्रगति की एक नस्लवादी धारणा का प्रसार तथा उपनिवेशवाद के पक्ष में एक आख्यान खड़ा करना था।

ग्रियर्सन के बहुत से सहयोगी उनसे इसलिए जुड़े क्योंकि ग्रियर्सन को भारतीय भाषाओं का विशेषज्ञ माना जाता था और इस मामले में उनका दुनिया भर में नाम था। ऐसे लोग उनका नाम लेकर या तो अपना क्षेत्रीय एजेंडा आगे बढ़ाना चाहते थे या फिर अपना करियर बनाना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब ग्रियर्सन ने एलएसआइ पर काम करना शुरू किया तब तक नस्ल तथा भाषाशास्त्र परस्पर निकट आ चुके थे और आर्य-श्रेष्ठता का विचार दुनिया भर में प्रचलित हो चुका था। अपने परवर्ती चरणों तथा उन्नीसवीं सदी में अर्नेस्ट रेनॉं, मैक्स मुलर, एडॉल्फ़ पिकटेट, रूडोल्फ़ फ्रेडरिख ग्राउ जैसे अन्य प्रमुख विद्वानों के ज़रिए भारोपीय की संकल्पना नस्ल, भाषा तथा धर्म के बीच एक जटिल संजाल का निर्माण कर चुकी थी। ऑलेंडर के शब्दों में, इन लेखकों का मिज़ाज कुछ ऐसा था कि 'वे दावा तो किसी दूरस्थ पूर्वज के वारिस होने का करते थे लेकिन, हमेशा इस कोशिश में लगे रहते थे कि पूर्वजों द्वारा निर्मित उस अतीत से कैसे मुक्त हुआ जाए।' इस दुचित्ते नज़रिए का सबसे स्पष्ट परिणाम यह सामने आया कि आर्यों और सामियों के बीच तुलना का एक पूरा सिलसिला चल निकला। इसके तहत 'आर्यों की तुलना किशोरों से की जाती थी और उनके मुक़ाबले सामियों को अवरुद्ध बचपन की अवस्था में दर्शाया जाता था : ताकि हरेक पक्ष अपनी अंतर्निहित क्षमता का विकास कर सके।'[48] दूसरे शब्दों में, 1870 के आसपास युरोप में भाषाशास्त्र तथा एथ्नॉलजी/ऐंथ्रोपॉलजी के अनुशासनों में अकादमीय विभाजन हो चुका था, परंतु इसके बावजूद आर्य-श्रेष्ठता का विचार भाषा और नस्ल की धुँधली पट्टी पर टिका रहा। हालाँकि ज़्यादातर मामलों में सामियों ही उसके मुक़ाबले पर रहा करते थे, लेकिन अपनी पूर्वनिर्धारित नियति के मार्ग पर वह हमेशा अटल रहा। 'आर्यनिज़म ऐंड सेमिटिज़म'[49] की विचारोत्तेजक परिचर्चा में मजीद एक ऐसी ही अन्य उभयवृत्ति की ओर संकेत
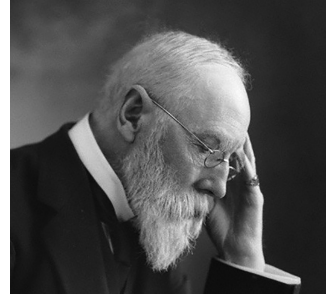
[47] थॉमस आर. ट्राउटमैन (1997) : 42.

[48] मॉरिस ऑलेंडर (2008) : 137.

[49] एन.आर. : छठा अध्याय.

करते हैं। उनके अनुसार समय के साथ ग्रियर्सन 'आर्यों' का प्रयोग 'हिंदुओं' के अर्थ में करने लगे थे (ग्रियर्सन 'इंडो-युरोपियन' के बजाय 'इंडो-आर्यन' का ज़्यादा इस्तेमाल कर रहे थे)। और जब वे एलएसआइ में इस पद का प्रयोग करते हैं तो तुलना के दूसरे सिरे पर 'सेमिटिक' इस्लाम होता है। मजीद कहते हैं कि इन दोनों श्रेणियों को अपघटित करने के अलावा ग्रियर्सन इंडो-आर्यन के इस शब्द-युग्म पर कुछ इस तरह फ़िदा हो गए थे कि वे 'हिंदू-मुस्लिम द्विचर' को 'सत्ता-मीमांसा की हैसियत' तक उठाने और इस्लाम को 'भारत के लिए ग़ैर' घोषित करने की हद तक चले गए थे।[50] यही वजह है कि उनके आख्यान में भारोपीय भाषाएँ बोलने वाले तो भारत में आए प्रवासी की तरह चित्रित किए गए हैं, जबकि इस्लाम आक्रांता बन गया है; हिंदू पुराणों और मिथकों का पवित्र भूगोल तो ब्रिटिश भारत के आधुनिक नक़्शों से गलबहियाँ करता दिखता है, लेकिन इस्लाम का भूगोल भारतीय संस्कृति या परंपरा के लिए अजनबी बन जाता है।[51] मजीद कुशलतापूर्वक दर्शाते हैं कि ग्रियर्सन तुलनात्मक भाषाशास्त्र के वंश-वृक्ष मॉडल के प्रति भी निष्ठावान थे और साथ ही भारतीय इतिहास में स्व: और अन्य की बायनरी के प्रति भी आकर्षित थे। इसी नज़रिए के चलते आख़िर में ग्रियर्सन अपने समय के उन चंद ब्रिटिश लेखकों में शुमार हुए जिन्होंने इस विचार को लोकप्रिय बनाने में महती भूमिका निभाई कि भारत हिंदुओं की प्राकृतिक जन्मभूमि हैं, जबकि मुसलमान उनके मूलभूत अन्य, शाश्वत विदेशी और देश की सांस्कृतिक पवित्रता के लिए स्थायी ख़तरा हैं।[52]

अंतत: ग्रियर्सन का यह सूत्रीकरण उनके हिंदी-उर्दू (दोनों का जन्म हिंदुस्तानी के एक पूर्व संस्करण से हुआ था) के इतिहास की व्याख्या में जाकर फलीभूत हुआ। मजीद बताते हैं :

> ग्रियर्सन के लेखन में हिंदी उनके कल्पित भारत का सांस्कृतिक प्रतीक बन जाती है। उर्दू से हिंदी की भिन्नता दर्शाने के लिए ग्रियर्सन अबौद्धिक भाषा का प्रयोग करते हैं ताकि इस्लाम और हिंदू धर्म की सत्ता–मीमांसक श्रेणियों को एक तरह के भावावेग में संयोजित किया जा सके। जहाँ कतिपय क्षेत्रीय भाषाओं के लिए ग्रियर्सन राष्ट्रीयता, पात्रता और अधिकारिता की एक किंचित ढीली-ढाली भाषा में बात करते हैं, वहीं भारत में उर्दू की नागरिकता उनके लिए एक अनिश्चित चीज़ बन जाती है।[53]

ग्रियर्सन के वृत्तांत में उर्दू दोहरी ग़ैरियत का शिकार होती है। पहले वे उस पर इस्लाम का ठप्पा जड़ देते हैं और फिर यह कहते हैं कि अपनी वर्तनी और शब्द-भंडार के लिए वह फ़ारसी पर निर्भर करती है। उनकी नज़र में उर्दू 'मुग़ल विजेताओं की अरबी से लदी फ़ारसी पर मुनहसर' करती है। इसलिए वह फ़ारसी के उस पुराने रूप से दूर छिटक जाती है जो कभी संस्कृत के काफ़ी क़रीब (जैसा कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अध्येता दशकों तक कहते आए थे) हुआ करती थी।[54] इस तरह, उर्दू के सामी पहलू को उसका सारतत्त्व घोषित करके ग्रियर्सन उसे ग़ैर बना देते हैं और भारत उपमहाद्वीप में उसके प्रवेश को एक ऐसी नागरिकता की श्रेणी में डाल देते हैं जिससे यह ध्वनित होता है कि उसे यह नागरिकता यहाँ आने के बाद हासिल हो पाई है। हिंदू भारत में 'अरबी से लदी-फदी फ़ारसी' (मुग़लों की दरबारी भाषा) और उससे पैदा हुई उर्दू न केवल भाषा के क्षेत्र में घालमेल खड़ा करती थी बल्कि देशभक्ति की भावनाओं के लिए भी

[50] वही : 140.

[51] वही : 136-40.

[52] वही : 158.

[53] वही : 166.

[54] वही : 168.

ख़तरा पैदा करती थी। यह ख़तरा इसलिए और संगीन हो जाता था क्योंकि दिल्ली सल्तनत तथा मुग़ल शासन के दौर में उत्तर भारत के बड़े इलाक़े तथा पंजाब, कश्मीर और बंगाल जैसे क्षेत्रों में फ़ारसी व अरबी के अनेक शब्द स्थानीय 'भारोपीय' भाषाओं में शामिल हो चुके थे। ग्रियर्सन को लगता था कि हिंदी इस घालमेल से निज़ात दिला सकती है। इसलिए उन्होंने यह साबित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी कि हिंदी केवल आर्यों की धरोहर को ही नहीं, बल्कि भारत के मूलभूत विचार को भी प्रतिबिंबित करती है। जैसा कि मजीद कहते हैं, नागरिकता की इस भाषा के बहाने ग्रियर्सन एक राजनीतिक सवाल भी तय कर रहे थे। वे भाषा के सवाल को उसकी चौहद्दी से निकाल कर धर्म, जातीयता और राजनय के परस्परव्यापी क्षेत्र की ओर मोड़ना चाहते थे ताकि यह बात आसानी से कही जा सके कि हिंदी-हिंदू का युग्म तो एक सहज बात है, जबकि उर्दू-मुस्लिम का युग्म असामान्य की श्रेणी में आता है।[55]

इस तरह देखें तो एलएसआइ में अपने समय की दो अलग-अलग धाराओं की शिनाख़्त की जा सकती हैं। इनमें एक धारा आर्य-श्रेष्ठता की वैश्विक प्रवृत्ति है और दूसरी धारा में राष्ट्रवादी राजनीति के दायरे में घट रही वे तमाम घटनाएँ आती हैं जो भाषा और धर्म को अपनी पहचान का पारिभाषिक संदर्भ बना कर चलती थीं। ग्रियर्सन पहली धारा से भली-भाँति परिचित थे और इस परंपरा के प्रमुख विद्वानों के साथ ख़तोकिताबत करते रहते थे। जहाँ तक दूसरी धारा का प्रश्न है तो ग्रियर्सन उसमें जमकर भागीदारी कर रहे थे। मजीद लिखते हैं कि बौद्धिक चर्चाओं में हस्तक्षेप करते वक़्त ग्रियर्सन युरोपीय श्रेणियों अथवा मानकों पर आधारित वैश्विक मानदंडों के बरअक्स 'भारतीय सांस्कृतिक तथा ज्ञान-मीमांसक राष्ट्रवाद' की दुहाई दिया करते थे।[56] मसलन, व्याकरणगत सुधारों के लिए गठित प्रवर समिति (1918-1921) से संबद्ध ओरियंटल परामर्श समिति में अपना पक्ष रखते हुए उन्होंने समिति के कार्यकारी मॉडल की यह कहकर आलोचना की थी कि अपनी युरोपीय बनावट के कारण उसका भारतीय भाषाओं से सहमेल नहीं हो सकता। संस्कृत वैयाकरणों की दीर्घ परंपरा तथा भारत की क्षेत्रीय भाषाओं (वर्नाकुलर्स) के क्षेत्र में युरोप तथा भारतीय विद्वानों द्वारा किए गए हालिया कार्य यानी एक तरह के मिश्रित कृतित्व का हवाला देकर ग्रियर्सन एक तरह से यह संकेत देना चाहते थे कि भाषा के मामले में भारत की चिंतन-पद्धति कुछ अलग प्रकार की है। मजीद का तर्क है कि ग्रियर्सन इसके ज़रिए एक स्थूल अर्थ में न केवल यह इशारा करना चाहते हैं कि भाषा तथा विचार या कहें कि चेतना के बीच एक गहरा संबंध होता है, बल्कि इस बात की दावेदारी भी करना चाहते हैं कि भाषा और विचार के इस संबंध का एक भारतीय परिप्रेक्ष्य भी है। और वैश्विक ज्ञान के उत्पादन में वे इस परिप्रेक्ष्य को एक विशिष्ट प्रणाली के रूप में मान्यता दिलाना चाहते हैं।[57] एलएसआइ की परियोजना में भारत का यह 'ज्ञानमीमांसक राष्ट्रवाद' एक बार तब फिर दिखाई देता है जब ग्रियर्सन विभिन्न भाषाओं, उनके प्रयोक्ताओं तथा 'प्रवासन' और 'विदेशी' जैसे मुद्दों की विवेचना करते हैं। एक स्तर पर यह सर्वेक्षण उपनिवेशवाद की इस लोकप्रिय धारणा को आगे बढ़ाता प्रतीत होता है कि भारत में अनेक राष्ट्रीयताएँ सन्निहित थीं और इसकी भाषा एवं बोलियाँ इन राष्ट्रीयताओं के फैलाव व शुद्धता को निर्धारित करने का काम करती थीं। अत: इस दृष्टिकोण के

[55] वही : 170-1.

[56] वही : 96.

[57] वही : 103-4.

तहत एलएसआइ के अन्यान्य खंडों में भारतीयता के किसी एक वर्चस्वी या प्रमुख रूप पर पहुँचना मुश्किल था। लेकिन, जैसा कि मैंने ऊपर इंगित किया है, मजीद का कहना है कि ग्रियर्सन के लेखन में भारतीयता की यह सुनिश्चित अभिव्यक्ति उनके इस आर्य-आख्यान पर टिकी है कि भले ही 'इंडो-आर्य' भारत का मूलवासी समूह न रहा हो, परंतु वह एक साझी भारतीयता का प्रतिनिधि अवश्य था। और इस आधार पर समूचे उपमहाद्वीप में साझी राष्ट्रीयता की कल्पना का वाहक बन सकता था। मजीद के अनुसार, ग्रियर्सन के लिए 'भारत की प्राचीनता का आशय 'आर्यों' की प्राचीनता से है, और 'आर्य' भारत ही भारतीय सभ्यता का 'शिखर' हैं।[58] ग्रियर्सन की दलील थी कि एलएसआइ की संकल्पना प्राच्यवाद, संस्कृत तथा भारत की प्राचीनता के मनोग्रह का प्रतिकार करती है, और उसका उद्देश्य आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओं का सर्वेक्षण करना है, परंतु अपने समय की बोलियों के फैलाव को एकसूत्र में बाँधने के लिए अंतत: उन्होंने आर्यों के अतीत तथा संस्कृत की टेक का सहारा लिया। उनके वृत्तांत में राष्ट्र और क्षेत्र का जो नक़्शा उभर रहा था, वह अपने अनुमोदन के लिए इसी प्राचीन अतीत और उसकी संभावनाओं की ओर देखता था।

3

एलएसआइ औपनिवेशिक काल का एक अभूतपूर्व दस्तावेज़ है। इसका एक कारण यह भी है कि इसे उत्तर-औपनिवेशिक काल में जिस तरह का पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है, वह भी कम अनूठी घटना नहीं है। मसलन, मजीद के शब्दों में, 'कतिपय क्षेत्रीय भाषाओं के इर्द-गिर्द उभरे आलोड़न में इसकी विशेष भूमिका रही। इसके अलावा, इसमें अधिकारों की दावेदारी के लिए जिस स्थूल शब्दावली का इस्तेमाल किया गया था, उसने भारतीय संविधान में ऐसे अधिकारों की व्यापक परिभाषा व अभिव्यक्ति तथा स्वतंत्रता के पश्चात राज्यों के भाषाई पुनर्गठन में दाग़बेल का काम भी किया।'[59] अपने विस्तृत रूप में यह सर्वेक्षण क्षेत्रीय भाषाओं के आपसी तनाव को व्यक्त करने के साथ उसके विभिन्न पक्षों — क्षेत्रीय प्रसार, भाषा का प्रयोग करने वाले समाज और व्याकरण आदि तथा भारत के समग्र विचार का बखान भी करता है। उत्तर-औपनिवेशिक भारत में कुछ मामले ऐसे हैं जहाँ कतिपय भाषाओं और क्षेत्रों को पहचान दिलाने में एलएसआइ की भूमिका प्रत्यक्ष रही, जबकि भाषाई सीमांतों के अन्य मामलों में यह परियोजना कोई राह नहीं सुझा पाई। एलएसआइ में एक बुनियादी बहुलता थी जिसकी कई तरह से व्याख्या की जा सकती थी, और जिसका अलग-अलग उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। इसलिए कई अलग-अलग समूहों और उनके एजेंडे के लिए वह बड़े काम की चीज़ साबित हुई। एलएसआइ ने क्षेत्र में अंग्रेज़ी की हैसियत भी तय कर दी थी — वह तटस्थ पंच तथा संपर्क भाषा की भूमिका एक साथ निभाती थी। अगर ग्रियर्सन की नज़र में संस्कृत भारतीय राष्ट्र की अंतर्निहित एकता का पर्याय थी तो उनके नज़रिए में इस राष्ट्र का भविष्य अंग्रेज़ी में समाया था। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाती है कि एलएसआइ पूरी तरह अंग्रेज़ी में लिखी गई है। और इसके पीछे यह धारणा काम करती नज़र आती है कि अलग-अलग भाषाई क्षेत्रों के आपसी अथवा राष्ट्र और उसके अलग-थलग क्षेत्रों के बीच पनपने वाले तनावों का हल अंतत: औपनिवेशिक प्रभु की भाषा से ही निकलेगा। ऐसे

---

[58] वही : 115.

[59] वही : 201.

में, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सर्वेक्षण के बीज-वपन से लेकर उसके प्रकाशन तक अंग्रेज़ी ने आधुनिक संस्कृत की भूमिका ही निभाई थी।

लेकिन, मजीद की निगाह में एलएसआइ की सबसे स्थायी विरासत 'अनिश्चितता के प्रति खुले रवैये और आर्य-भारत के मज़बूत होते आख्यान की द्वंद्वात्मक अन्योन्यक्रिया' है।[60] मजीद का कहना है कि सर्वेक्षण में ऐसे कई मुक़ाम आते हैं जहाँ वह बहुत कमज़ोर और अनिश्चित दिखाई पड़ता है। जहाँ-जहाँ ऐसा होता है, ग्रियर्सन भारतीय सभ्यता में आर्य-तत्त्व की स्थापना करके सर्वेक्षण को इस कमज़ोरी से उबार लेते हैं। मजीद यह भी स्पष्ट करते हैं कि एलएसआइ में यह द्वंद्वात्मक अन्योन्यक्रिया महज़ तकनीकी फ़ैसला न होकर ग्रियर्सन के निजी इतिहास तथा समकालीन राजनीति के प्रति उनके रवैये से प्रभावित था। इस राजनीतिक कथा का पहला भाग उन संगठनों की गतिविधियों से बयान होता है जो हिंदी को भारत की सर्वोत्कृष्ट भाषा सिद्ध करने पर तुले थे और जिनका यह भी मानना था कि यह भाषा केवल नागरी लिपि में ही लिखी जा सकती है। ग़ौरतलब है कि ग्रियर्सन ऐसे संगठनों के संपर्क में रहते थे। हिंदी के पैरोकार संगठनों और व्यक्तियों के साथ ग्रियर्सन की बातचीत का ब्योरा देने के बाद मजीद कहते हैं, 'भाषाशास्त्र की शब्दावली में कहें तो सर्वेक्षण के कारण एक भाषा के रूप में हिंदी पर एक तरह की क्षेत्रीय अस्मिता लाद दी गई और उसे मैथिली जैसी अन्य बोलियों व भाषाओं से अलग कर दिया गया जो कभी उसका अंग मानी जाती थीं। लेकिन, राजनीतिक अर्थों में ग्रियर्सन ने हिंदी को आर्य एवं हिंदू भारत के ऐसे 'आदर्शीकृत' प्रतीक के तौर पर प्रतिष्ठित कर दिया जो मुसलमानों के आक्रमण के कारण धूल-धूसरित हो गया था।'[61] ग्रियर्सन के लिए हिंदी केवल हिंदू (अथवा आर्य) मर्म का पर्याय नहीं थी। उन्हें लगता था कि उसकी निरंतरता भारतीय राष्ट्र की मूलभूत आवश्यकता है। यह एक ऐसा विचार था जो उन्नीसवीं सदी की आख़िरी दहाई में राष्ट्रवादी राजनीति के भीतर पनप रही प्रवृत्तियों से क़दम मिला कर चल रहा था। और यह अचरज की बात नहीं है क्योंकि ग्रियर्सन केवल हिंदी के पैरोकारों के बीच ही नहीं, बल्कि राष्ट्रवादियों के बीच भी ख़ासे लोकप्रिय थे।

क्रिस्तॉफ़ जैफ़्रलो के काम का हवाला देते हुए मजीद यह भी कहते हैं कि उपमहाद्वीप में हिंदू राष्ट्रवाद का उदय, जिसे आम मुहावरे में हिंदुत्व कहा जाता है, और एलएसआइ की परियोजना एक ही अवधि — 1870-1920, की घटनाएँ हैं। हिंदुओं की सर्वोच्चता पर आधारित यह विचारधारा दो बुनियादी मुद्दों पर ज़ोर देती थी : भारत आर्यों की मूल भूमि है, और मुसलमान बाहर से आए हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ग्रियर्सन तथा एलएसआइ दोनों ही इस विचार के हामी थे। अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है कि हिंदुत्व की विचारधारा में झलकता इस्लाम के प्रति यह विद्वेष केवल भाषा तक सीमित नहीं था। यह बात जग-ज़ाहिर है कि आर्य-श्रेष्ठता के भाषाशास्त्रीय विचार की जड़ें पूरी दुनिया में फैली थीं। और एक तरह से कहें तो उन्नीसवीं सदी के दौरान इस विचार की एक शाखा हिंदू राष्ट्रवाद के रूप में फूटी थी। इस प्रसंग में मजीद आगे लिखते हैं :

> एक विचारधारा के रूप में हिंदू राष्ट्रवाद ऊँची जातियों के परंपरागत दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करता था। और इस अभिव्यक्ति में बकौल जेफ्रेलो 'भारतीय परंपरा के मानवेतर विज्ञान' का तत्त्व निहित था। आरएसएस की विचारधारा तथा नीतिगत ढाँचे में ब्राह्मणवादी मूल्य-मान्यताएँ अनुस्यूत थीं। ग्रियर्सन के लेखन का एक अंश इन्हीं मूल्य–मान्यताओं से संपृक्त दिखाई पड़ता

[60] वही : 203.

[61] वही : 189.

> है... एक निश्चित सीमा तक, ग्रियर्सन अंग्रेज़ी शासन की इसी 'ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति' में भागीदार थे... ग्रियर्सन जाति-व्यवस्था तथा आर्य-भाषाओं को एक ही स्वर में 'सभ्यता की जिह्वा' घोषित करते हैं। और यह भी कहते हैं कि यहाँ के मूलवासी क़बालों ने जाति-व्यवस्था की 'प्रतिष्ठा' में भागीदार बनने के लिए किस तरह आर्यों की भाषा और संस्कृति को अपना लिया था। अपने वृत्तांत में ग्रियर्सन कहीं भी जाति की आलोचना करते नज़र नहीं आते।[62]

जिस तरह ग्रियर्सन ने उत्तर भारत की मिश्रित संस्कृति को हिंदू-हिंदी तथा मुस्लिम-उर्दू की दो पृथक और एकाश्मिक अस्मिताओं में बाँट कर देखा, उसी तरह हिंदू राष्ट्रवाद भी प्रामाणिक भारतीय (हिंदू भारत) और ख़तरनाक विदेशी (इस्लाम) का फ़र्क़ खड़ा करना चाहता था। ग्रियर्सन के दृष्टिकोण और हिंदू राष्ट्रवाद की विचारधारा के बीच एक तरह की परस्पर-व्याप्ति लक्षित की जा सकती है। ज़ाहिर है कि इससे दक्षिण एशियाई भाषाओं और उनकी बहुरंगी विविधताओं के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में एलएसआइ की परियोजना ख़ारिज नहीं हो जाती। हाँ, इस संबंध से यह ज़रूर पता चलता है कि उपनिवेश के अधिकारियों तथा हिंदुत्व की पैरवी करने वाले लोगों के 'देशज' विचारों में एक साझा तत्त्व ज़रूर था। आज जब भारत में हिंदू सर्वोच्चता का दावा करने वाली ताक़तों का वर्चस्व क़ायम हो गया है तो यह दर्ज करना ज़रूरी है कि हिंदुत्व के जिन विचारों को उसके स्वायत्त अस्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उनका उत्स दरअसल उपनिवेश के अभिलेखागारों में मिलता है। इस नाते, एलएसआइ की भूमिका में एक गवाही ऐसी भी शामिल है जो इस अंध-राष्ट्रवादी विचारधारा के 'विदेशी'पन की ओर इशारा करती है।

संदर्भ

आमिर आर. मुफ़्ती (1998), 'अउरबाख़ इन इस्तांबुल : एडवर्ड सईद, सेकुलर क्रिटिसिज़म, ऐंड द इंफ़्लुएंस ऑन लेटर स्टडीज़', *क्रिटिकल इंक्वायरी* 25.

——————(2018), *फ़ॉरगेट इंग्लिश! ओरिएंटलिज़म ऐंड वर्ल्ड लिटरेचर्स,* केम्ब्रिज, एम.ए., हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

एडवर्ड सईद (2004), 'एरिक अउरबाख़, क्रिटिक ऑफ़ दि अर्थली वर्ल्ड', *बाउंड्री* 2, 31.2.

———— (2003), 'इंट्रोडक्शन टू दि फ़िफ़्टिएथ-एनिवर्सरी एडीशन', *माइमेसिस : दि रिप्रेज़ेंटेशन ऑफ़ रिअलिटी इन वेस्टर्न लिटरेचर*, एरिक अउरबाख़ (सं.), प्रिंसटन युनिवर्सिटी, प्रिंसटन, एनजे.

———— (2004), *दि रिटर्न टू फ़िलॉलजी', ह्यूमैनिज़म ऐंड डेमोक्रेटिक क्रिटिसिज़म*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

एमिली एप्टर (2006), *द ट्रांसलेशन ज़ोन : अ न्यू कंपैरेटिव लिटरेचर*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी, प्रिंसटन, एनजे.

उदय सिंह मेहता (1999), *लिबरलिज़म ऐंड एम्पायर : अ स्टडी इन नाइंटींथ सेंचुरी ब्रिटिश लिबरल थॉट,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1928), *प्रेफ़ेस टू इंट्रोडक्टरी, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया,* 11 खंड, ऑफ़िस ऑफ़ सुपरिंटेंडेंट ऑफ़ गवर्मेंट प्रिंटिंग, कलकत्ता.

जावेद मजीद (2019), *कोलोनिअलिज़म ऐंड नॉलेज इन ग्रियर्संस लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया,* रटलेज, लंदन.

जेनिफ़र पिट्स (2006), *अ टर्न टू एम्पायर : द राइज़ ऑफ़ इम्पीरिअल लिबरलिज़म इन ब्रिटेन ऐंड फ्रांस,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

---

[62] वही : 148.

जेम्स टर्नर (2014), *फ़िलॉलजी : द फ़ॉरगॉटन ओरिजिंस ऑफ़ द मॉडर्न ह्यूमैनिटीज़*, प्रिसंटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

देजल क़ादिर (2011), *मेमोज़ फ्रॉम द बिसीज्ड सिटी : लाइफ़लाइंस फ़ॉर कल्चरल सस्टेनेबिलिटी,* स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़र्ड.

जॉन गिलक्रिस्ट (1796), *अ ग्रैमर ऑफ़ दि हिंदुस्तानी लैंग्वेज ऑर पार्ट थर्ड ऑफ़ वॉल्यूम फ़र्स्ट, ऑफ़ अ सिस्टम ऑफ़ हिंदुस्तानी फ़िलॉलजी*, क्रोनिकल प्रेस, कलकत्ता.

जॉन बोर्थविक गिलक्रिस्ट (1808), *द स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड टू द हिंदुस्तानी; ऑर ग्रैंड पॉप्युलर लैंग्वेज ऑफ़ इंडिया,* ब्लैक, पैरी तथा किंग्सबरी, लंदन.

जोसेफ़ एरिंगटन (2008), *लिंग्विस्टिक्स इन अ कोलोनिअल वर्ल्ड : अ स्टोरी ऑफ़ लैंग्वेज,* मीनिंग ऐंड पावर, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

डेविड कॉफ़ (1969), *ब्रिटिश ओरिएंटलिज़म ऐंड द बंगाल रिनैसाँस : द डायनैमिक्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्नाइज़ेशन,* 1773-1835, युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

थॉमस आर. ट्राउटमैन (1997), *आर्यंस ऐंड ब्रिटिश इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया प्रेस, बर्कले.

निकलस बी. डर्क्स (2010), *कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कोलोनिअलिज़म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

फ़र्दिनैंद दे सस्यूर (1916), *कोर्स दि लिंग्विस्तीक जेनराल,* लूसान, पयोत.

बर्नार्ड एस. कोह्न (1996), *कोलोनिअलिज़म ऐंड इट्स फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज : द ब्रिटिश इन इंडिया,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

——————(1996), 'द कमांड ऑफ़ लैंग्वेज ऐंड द लैंग्वेज ऑफ़ कमांड', *कोलोनिअलिज़म ऐंड इट्स फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज : द ब्रिटिश इन इंडिया,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

बैदिक भट्टाचार्य (2016), 'ऑन कम्पैरिटिज़्म इन द कॉलोनी : आर्काइव्ज़, मेथड्स, ऐंड द प्रोजेक्ट ऑफ़ वेल्टलितरेतुर', *क्रिटिकल इंक्वायरी*, 42.

बैदिक भट्टाचार्य (2021), 'कोलोनिअल फ़िलॉलजी ऐंड दि ओरिजिंस ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर', *केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर*, देबजानी गांगुली (सं.), केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

मिशेल फ़ूको (2002), *दि ऑर्डर ऑफ़ थिंग्स : ऐन आर्केयॉलजी ऑफ़ द ह्यूमन साइंसेज़,* (अनु.) : प्रकाशक, रटलेज, लंदन.

मॉरिस ऑलेंडर (2008), *द लैंग्वेज ऑफ़ पैराडाइज़ : रेस, रिलीजन ऐंड फ़िलॉलजी इन द नाइंटींथ सेंचुरी,* (अनु.) : आर्थर गोल्डहैमर, केम्ब्रिज, एम.ए., हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

रेमंड श्वाब (1984), *ओरिएंटल रेनेसाँस : युरोप्स रीडिस्कवरी ऑफ़ इंडिया ऐंड दि ईस्ट, 1680-1880,* (अनु.) : जेने पैटर्सन-किंग एवं विक्टर रेनकिंग, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

विलियम जोंस (1807), 'अ डिसर्टेशन ऑन दि ऑर्थोग्रैफ़ी ऑफ़ एशियाटिक वर्ड्स इन रोमन लेटर्स', *वर्क्स ऑफ़ सर विलियम जोंस,* 13 खंड, जॉन स्टॉकडेल ऐंड जॉन वॉकर, लंदन.

शेल्डन पोलॉक (2006), *द लैंग्वेज ऑफ़ गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ मैन : संस्कृत, कल्चर, ऐंड पावर इन प्रिमॉडर्न इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

सारा सुलेरी (1992), *द रेटॉरिक ऑफ़ इंग्लिश इंडिया,* शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो.

सिराज अहमद (2018), *आर्केयॉलजी ऑफ़ बैबेल : द कोलोनिअल फ़ाउंडेशन ऑफ़ द ह्यूमैनिटीज़*, स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफ़र्ड.

हेरासिम लेबेडेफ़ (1801), *अ ग्रैमर ऑफ़ द प्योर ऐंड मिक्स्ड ईस्ट इंडियन डायलेक्ट्स,* जे. स्करवेन, लंदन.